संयुक्त अरब इमारात से प्रकाशित हिन्दी की पहली पत्रिका

निकट

सम– सामयिक साहित्य की अर्धवार्षिकी

वर्ष-5, अंक-5 मई–अक्टूबर 2011

सलाहकार–**राजेन्द्र राव**
संस्थापक– **अशोक कुमार, कांता भाटिया**
संपादक– **कृष्ण बिहारी**
उप संपादक– **अमरीक सिंह दीप**
सह– संपादक– **आदित्य यादव**
आवरण : **प्रज्ञा पाण्डेय**
पत्रिका में प्रयुक्त चित्र : **राजवंत राज**

संपादकीय कार्यालय :
Po. Box No-52088
Abudhabi, UAE
Mobile-+971505429756,+971554561090
email : krishnatbihari@yahoo.com

मूल्य :
भारत में पच्चीस रुपये मात्र
खाड़ी व विदेश में पांच डॉलर
भारत में आजीवन तीन हज़ार रुपये
विदेश में आजीवन दो सौ डॉलर

सम्पादक, प्रकाशक और वितरक– **कृष्णबिहारी**
कानूनी सलाहकार : **राजेश तिवारी, एडवोकेट**
2/241, विजयखंड, गोमतीनगर, लखनऊ, उत्तर प्रदेश।
'निकट' में प्रकाशित विचार रचनाकारों के हैं। उनसे सहमत होना संपादक की सहमति नहीं है। किसी भी प्रकार के विवाद का निपटारा लखनऊ हाईकोर्ट में होगा।

इस अंक से

समय से बात-5 3
आपकी बात आपके पत्र 6

संस्मरण
अपनी परछाहीं को भेद-भेद जाते अज्ञेय : राजेश जोशी 9
जेल जीवन के सवाक् चित्र : राजेन्द्र राव 12

कहानियाँ
नेपथ्य का नरक : अपूर्व जोशी 16
ख़सम : हरि भटनागर 22
सुनो तो पुरबैया : जयश्री राय 26
आदमी और औरत उर्फ़ बीच रात की लोरी : प्रमोद सिंह 32
हक़ : रवि अग्निहोत्री 38
ढलान पर कुछ पल : प्रताप दीक्षित 41
सड़क की ओर खुलता मकान : रूप सिंह चंदेल 64
असमाप्त : उर्मिला शिरीष 70
अनभिज्ञ : राजेन्द्र दानी 76

कविताएँ
निरपेक्ष कुछ भी नहीं : प्रेमिला सिंह 44
लड़की चार चित्र : मोहन सिंह कुशवाहा 46
हममें बहुत कुछ : उत्पल बनर्जी 47
बुर्के वाली औरत : मंजरी श्रीवास्तव 49
स्कूटर चलाती लड़कियाँ : प्रदीप मिश्र 50
घर में : आभा श्रीवास्तव 51
दो ग़ज़लें : कमलेश भट्ट 'कमल' 54
दो गज़लें : अनीता भुल्लर 54
चार ग़ज़लें : श्रीप्रकाश श्रीवास्तव 55
तीन पंजाबी कविताएं : परमिन्दरजीत 53
घर से लगा बगीचा : वीरेन्द्र आस्तिक 56
चले आओ, चले जाना : यतीन्द्रनाथ राही 57
हे काल! ठहरो : जगन्नाथ त्रिपाठी 59

स्मृति शेष
जगन्नाथ त्रिपाठी 'शारदेय' को याद करते हुए : चन्द्रेश्वर 60
लघुकथाएँ : विज्ञान भूषण, डॉ० खान हफ़ीज़ व अमरीक सिंह दीप 63

फिल्म
रेखा का रंग ही कुछ और है : दयानंद पाण्डेय 78
समीक्षाएँ: गोबिन्द उपाध्याय 81
एक आग का दरिया है
अख़बार की दुनिया सच
मुम्बई के कैनवास पर खींचा गया अद्भुत चित्र
मन की बात 87
अध्यात्म का सच : अमरीक सिंह दीप

निकट

अगला अंक : निकट–6 नवम्बर-फरवरी 2011-12
संभावित रचनाकार–

राजेन्द्र यादव, श्रीलाल शुक्ल, रवीन्द्र कालिया, अमरकांत, काशीनाथ सिंह, दूधनाथ सिंह, कामता नाथ, राजेन्द्र राव, मन्जूर एहतेशाम, चन्द्रकिशोर जायसवाल, गोविन्द मिश्र, मधुकर सिंह, मिथलेश्वर, असगर वज़ाहत, गुलज़ार, अब्दुल बिस्मिल्लाह, बादशाह हुसैन रिज़वी, मन्नू भण्डारी, कृष्णा सोबती, ममता कालिया, मेहरून्निशा परवेज़, उषा प्रियंवदा, नासिरा शर्मा, म दुला गर्ग, चित्रा मुद्गल,
कृष्णा अग्निहोत्री, शिवमूर्ति, संजीव, अमरीक सिंह दीप, हिमांशु जोशी, नामवर सिंह, अशोक बाजपेयी, विश्वनाथ तिवारी, मैनेजर पाण्डेय, प्रभाकर क्षोत्रिय, परमानंद श्रीवास्तव, विजय बहादुर सिंह, विश्वनाथ त्रिपाठी, कान्ति कुमार जैन, पुष्पपाल सिंह, नीरज, शहरयार, रामस्वरूप सिन्दूर, केदारनाथ सिंह, कुंवर बेचैन, वीरेन डंगवाल, कुंवर नारायण, भगवत रावत, प्राण शर्मा, अदम गोंडवी, नरेश सक्सेना, लीलाधर मंडलोई, राजेश जोशी उल्लेखित हस्ताक्षरों से सम्पर्क शुरू हो गया है।

सम्पादक : कृष्ण बिहारी
Po. Box-52088
Abudhabi, UAE
Email : krishnatbihari@yahoo.com
Mo : 0554561090, 0505429756

सम्पादकीय

'निकट' का पांचवां अंक निकालते हुए यह विश्वास होने लगा है कि पत्रिका निकाल सकूंगा। मैंने प्रवेशांक में लिखा था कि पांच-छह अंकों तक आते-आते कोई पत्रिका अपने स्वरूप तक पहुंचती है। सूरत और सीरत सुधारने में समय लगता है। अब तक की यात्रा में अंक दर अंक प्रगति दिखी भी है मगर अब भी बहुत सी कमियां हैं जिन्हें होते जा रहे अनुभवों और आप सबके सुझावों से दूर करने की कोशिश जारी रहेगी। मैं भी सीखने की प्रक्रिया से गुज़र रहा हूँ। जब पहले अंक का लोकार्पण श्री राजेन्द्र यादव के हाथों दुबई में हुआ था तब भी मैंने यही कहा था और आज फिर उसी को विनम्रता से दुहरा रहा हूँ। खुशी की बात यह है कि इस अंक से मैं पत्रिका के प्रकाशक से सीधे जुड़ रहा हूँ, तो इसके ले-आउट, प्रूफ और छपाई को भी अब ठीक से देख सकूँगा जो किसी भी पत्रिका में सुधार लाने की निम्नतम और पहली ज़रूरत है। ज़रूरत इस बात की भी हो गई है कि रचनाओं के चुनाव में निर्मम हुआ जाए ताकि पत्रिका निकालने का केवल कमिटमेण्ट ही पूरा न हो बल्कि उद्देश्य भी सधे। एक लेखक के तौर पर तो निर्मम हूँ मगर सम्पादक के तौर पर कुछ और होने की ज़रूरत है। रिश्ते-नाते, दोस्तियां, वास्ते, सिफारिशें, एहसान, दबाव और बहुत तनाव एक सम्पादक की राह की वे मज़बूरियां हैं जिनसे बच पाना आसान नहीं होता। मैंने इन बातों को 'हंस' और जागरण 'पुनर्नवा' कार्यालय में बैठे हुए कई बार देखा है। जो रचनाकार अपनी रचना किसी पत्रिका को देता है वह केवल और केवल यही समझता है कि उसकी रचना कालजयी है। इसके सिवाय और कुछ समझने को वह तैयार नहीं होता। यह भी नहीं कि उसकी रचना का उपयोग उस पत्रिका में नहीं हो सकता। पत्रिका और सम्पादक के मिजाज को बिना समझे वह अपनी रचना को लेकर बड़ा पजैसिव हो जाता है और जस्टीफाई करने लगता है कि उसकी रचना पर कोई निगेटिव कमेण्ट केवल पूर्वाग्रह के अलावा कुछ नहीं है। ऐसा मैंने भी लेखक के तौर पर एक-दो बार किया है। लेकिन मुझे यह समझने में देर नहीं लगी कि रचना सुधार मांगती है या कि इस रचना की जगह कहीं और है। मैं रचनाकारों से इतनी अपेक्षा तो अब कर ही सकता हूँ कि रचना को सुधारने का सुझाव स्वीकारें या फिर रचना, निकट के अलावा अन्यत्र भेज दें। इस पत्रिका का नामकरण 22 जून 2006 को कृष्ण कैफेटेरिया दुबई में श्री अशोक कुमार सी ई ओ इण्डियन हाई, श्रीमती कांता भाटिया और मेरी मौजूदगी में हुआ था। वह अद्भुत क्षण था जब हमने इसे निकालने का निर्णय लिया। चार साल निकल गए। अंक भी चार ही निकले जबकि आठ अंक निकलने चाहिए थे। ख़ैर, अब यह पत्रिका मैं स्वतंत्र रूप से निकाल रहा हूँ। अशोक कुमार जी न होते तो इसे पहचान ही न मिलती। कांता जी न होतीं तो मात्र चार-चार घण्टे में प्रूफ न देख पाता। दोनों ही अति व्यस्त हैं। इस अंक से आभार प्रकट करते हुए इन सबको मुक्त करता हूँ और सारे तनाव स्वयं लेता हूँ, इस उम्मीद के साथ कि जब कभी ज़रूरत होगी तब सभी साथ होंगे...

ooo

दो दिसम्बर 2010 को जब यह सम्पादकीय लिखना शुरू किया है तो कई बातें सामने हैं। आज संयुक्त अरब इमारात का नेशनल-डे है। सात देशों के संगठन की आज उन्तालिसवीं सालगिराह है। मैं पिछले पचीस साल से अबूधाबी में हूँ। यानी, मेरे यहाँ आने के लगभग 15 साल पहले सात देशों का यह संगठन वजूद में आया था। अबूधावी, अरब इमारात की राजधानी है। अभी कुछ देर पहले मैंने अपनी कार से अबूधाबी शहर का एक चक्कर लगाया है। पत्नी साथ थी। वह भी यहाँ पिछले तेईस साल से है। हमने इस शहर और संगठन के सातो देशों को बनते देखा है। इमारात से सटे हुए दूसरे देश ओमान को भी देखा है। सड़क पर लाखों कारों और नेशनल-डे की खुशी मनाती घरों से बाहर निकल आई लाखों की पैदल भीड़ के बीच चलती या यूं कहें कि रेंगती कार में अबूधाबी के इतिहास से वर्तमान तक पर हमने चर्चा की। कि, हम जब यहाँ आए थे तो शहर कैसा था और आज कैसा हो गया है। सड़कें दो लेन से चार और छह लेन हो गई हैं। बिजली और पानी कभी एक पल के लिए भी विलुप्त नहीं हुए। ज़मीन पर ही नहीं समन्दर की छाती पर भी मॉल, होटेल और अपॉर्टमेन्ट बने। दुनियां की सबसे ऊँची इमारत (लगभग एक किलोमीटर ऊँची) बुर्ज ख़लीफा का उद्घाटन हुआ। स्वास्थ्य संबंधी सेवाओं में अद्भुत प्रगति हुई। अनेक फ्लाई ओव्हर बने। शहर में साल भर तक निःशुल्क बस सेवा रही। उसके बाद केवल एक दिरहम और दो दिरहम के किराए पर बसें चल रहीं हैं। टैक्सी का किराया और बाजार में उपभोक्ता की ज़रूरत के हर सामान का दाम लगभग बीस वर्ष तक एक पैसे नहीं बढ़ा। यही हाल पेट्रोल का भी उस दौरान रहा। बाज़ार में मिलावटी सामान कभी नहीं मिला। कोई भी रेस्तरां, सलून, पॉर्लर, स्टोर, गोडाउन या दूकान के अलावा कोई कंपनी जो नियमों का उल्लंघन करते पकड़ी जाती है उसका लाइसेंस रद्द हो जाता है। शटर पर ताला तुरंत लगता है। जुरमाना जड़ा जाता है और जितने भी लोग उससे सम्बद्ध होते हैं, जेल पहुंच जाते हैं। मुकदमा चलता है। सज़ा होती है। पचीस सालों में किसी को रिश्वत देते

या लेते नहीं देखा। किसी कार्यालय में मैंने कभी रिश्वत की मांग नहीं सुनी। चार दीवारों के पीछे लेन-देन दुनिया का व्यवहार माना जाता है। यह मैंने यहां सुना भी है। वह यहां भी होता होगा मगर खुली सड़क पर किसी को तंग होते कभी नहीं देखा। कोई अपने घर का कचरा दूसरे के दरवाज़े पर नहीं फेंकता। राहजनी या छिनताई नहीं होती। स्त्रियों की चेन या बाली नहीं खिंचती। जब तक स्त्री न चाहे उसे कोई ख़रीद नहीं सकता। अगर अपने को बेंचते हुए पकड़ी गई तो जेल और रिपोर्ट होना ही है। लेकिन इसका मतलब यह नहीं कि यहां अपराध नहीं होते। हर तरह का जुर्म यहां भी होता है। कड़े कानून से अपराध पूरी तरह से ख़त्म तो नहीं होते मगर सज़ा का डर अपराध को बहुत कम ज़रूर करता है। उस लिहाज़ से यहां अपराध दिखाई तो बिल्कुल नहीं देते। हां, पिछले तीन साल से महंगाई इतनी बढ़ गई है कि लोग परेशान हुए हैं मगर विकास को लेकर कोई भी दुविधा में नहीं है। दो सौ देशों से अधिक के नागरिक यहाँ रोजी-रोटी कमा रहे हैं और बिना हाय-हाय, किच-किच के न केवल रह रहे हैं बल्कि अपनी कमाई से बचत करके अपने देश को विदेशी मुद्रा भी दे रहे हैं। प्राकृतिक संपदा के नाम पर यहाँ केवल एक चीज़ है– पेट्रोल। अपनी हर ज़रूरत का सामान इस देश ने अपनी इसी एक सम्पदा और कठोर कानून के बल पर पैदा किया है। ऐसा कठोर कानून जिसकी सब इज़्ज़त करते हैं। जब मैं आया था तो सुनता था कि चौदह-पन्द्रह साल पहले यानी सन सत्तर के आसपास अबूधाबी के नदेशिया में रम्मल (रेत) पर चादर बिछाकर लालटेन की रोशनी में दुकानें लगती थीं। ए.सी. नहीं था। कारों की संख्या न के बराबर थी। सुनकर सपने और किसी चमत्कार से कम नहीं लगा था। लेकिन पहले राष्ट्रपति शेख़ ज़ायद बिन सुल्तान अल नहयान (Shekih Zayad bin Sultan al nahyan) के विज़न ने इमारात का नक्शा बदल दिया। रेगिस्तान को नख़लिस्तान बना दिया। और, ऐसा क्या नहीं है जो इमारात में सहजता से शुद्ध रूप में उपलब्ध नहीं है!

हमारे देश हिन्दुस्तान में प्राकृतिक संपदा के नाम पर लाखों चीजें हैं। हमारा देश बड़ा है। हमारे देश में लोकतंत्र है। हमारे देश का भी विकास हुआ है। अमेरिका का राष्ट्रपति कहता है कि भारत विकासशील नहीं बल्कि विकसित देश है। मानना पड़ता है। जब कोई ताकतवर देश हमारे बारे में ऐसा कहे तो हमें क्या, दुनिया को मानना पड़ेगा। लेकिन आधुनिक भारत के चेहरे का एक परिद श्य आज सबके सामने है। वह है– भ्रष्टाचार में आकंठ डूबा हिन्दुस्तान। हर दिन एक नया घोटाला सामने आकर बीते दिन के घोटाले को पीछे छोड़ रहा है। यह स्थिति तब है जब देश का प्रधानमंत्री एक नेकदिल और ईमानदार इन्सान है। उसकी ईमानदारी पर शक करना, गुनाह-सा लगता है। मगर देश की जनता क्या करे? उसकी ईमानदारी को शहद लगाकर चाटे? वह कोई निर्णय नहीं ले पाता। गुनहगार को दुत्कार तो क्या फटकार तक नहीं सकता। देश में कोई विभाग ऐसा नहीं बचा जहां घूसखोरी, बेईमानी, कमीशनखोरी का बोलबाला न हो। मज़े की बात कि कोई अकाउण्टेबल नहीं है। किसी को किसी बात का डर नहीं है। सुप्रीम कोर्ट की फटकार भी कोई असर नहीं दिखा रही। किसी का कुछ होता भी नहीं। हर कोई निश्चिंत है कि कुछ भी कर लो, कुछ नहीं होगा। यहां तक कि आतंकवादी तक निश्चिंत हैं कि हिन्दुस्तान में कुछ भी करो और उस देश की जेल में रहते हुए, और सुरक्षित हो जाओ। करोड़ों रुपये आतंकवादियों को मोटा और मस्त रखने में खर्च हो रहे हैं। मुझसे एक दिन एक स्थानीय व्यक्ति ने यहां कहा कि मुम्बई हमले में पकड़े गए आतंकवादी को कब तक ज़िन्दा रखोगे? हमने उसे उसी समय ख़त्म कर दिया होता। किस मंत्री को नहीं मालूम कि हिन्दुस्तान में करोड़ों बांग्लादेशी हिन्दुस्तानी नागरिक की हैसियत से रह रहे हैं मगर उन्हें क्या लेना-देना? उनके घर के बरतन मंजने चाहिए और वोट मिलने चाहिए। दिल्ली में दस रिक्शाचालकों में तीन बांग्लादेशी हैं। घरों में काम करने वाली बाइयों में दस में चार बांग्लादेशी हैं। यह सरकार क्या कर रही है? और पहले की सरकारों ने किया क्या है? यह लोकतंत्र की कैसी कुम्भकर्णी नींद है जो टूटने को तैयार नहीं। दस से बीस प्रतिशत लोग देश के कानून से हर तरह का खिलवाड़ कर रहे हैं और अस्सी प्रतिशत जनता उनके जघन्य बलात्कार से पिसते हुए खून के आंसू पी रही है। देश के नेकदिल और योग्य प्रधानमंत्री किसके प्रति जवाबदेह हैं? हैं भी या नहीं?

केन्द्रीय मंत्री, कई प्रदेशों के मुख्यमंत्री, पुलिस और सेना के अधिकारी, प्रशासन से जुड़े अधिकारी यानी के मंत्री से संत्री तक भ्रष्टाचार के आरोपों से घिरे हैं। सब के सब यह कहते हुए दिखते हैं कि आइ विल कम आउट क्लीन..... लॉ विल टेक इट्स ओन कोर्स...

कानून अपना काम कब करेगा? किस जन्म में? कब तक अपराधी सज़ा से बचे रहेंगे और कब तक निर्दोष, न्याय न पाने की वज़ह से सलाखों के पीछे सड़ते रहेंगे? मेरे एक तमिल मित्र जयपाल राज का कहना है कि जब भी किसी के भ्रष्टाचारी होने की बात समाज के सामने आती है तो सबसे पहले उसकी संपत्ति ज़ब्त की जानी चाहिए और उसे सलाखों के पीछे तुरन्त डालना चाहिए। देश की सम्पत्ति की रिकवरी सबसे पहले, और सजा बहुत ज़ल्द होनी चाहिए.....

आपका क्या ख्याल है?

पिछले महीने की तेईस तारीख यानी तेईस नवम्बर को मैंने महामहिम प्रतिभा पाटिल को बहुत पास से सुना। मेरे एक छात्र दिव्य मजूमदार ने उनसे पूछा कि भारत में न्याय विलम्ब से मिलता है, क्या वह जस्टिस डिनाइड नहीं है? महामहिम का जवाब था– ताल्लुके से सुप्रीम कोर्ट तक जो फासला है वह बहुत लम्बा है। प्रक्रिया लम्बी है। इसमें वक़ त लगता है। मेरे छात्र का प्रश्न ही यही था कि क्या यह न्याय से वंचित होना नहीं है? मैं अपने तरीके से कहता हूँ कि यह अन्याय है और यह अन्याय धड़ल्ले से हो रहा है। पूरा देश शर्मसार है मगर शर्म किसी को नहीं आती। काबा किस मुंह से जाओगे ग़ालिब....

○ ○ ○

पिछले दिनों में देश में और देश से दूर खेलकूद प्रतियोगिताओं का आयोजन हुआ। देश में छीछालेदर होती रही। आयोजकों ने सबके लिए हतोत्साहित होने वाला

वातावरण बना दिया था। मुझे या मुझ जैसे लोग भीतर ही भीतर बहुत आहत थे। मगर हमारे देश के खिलाड़ियों ने उस अवस्था में भी अपना मॉरेल डाउन होने नहीं दिया और अपनी उपलब्धियों से उन सभी लुटेरों के गालों पर झन्नाटेदार तमाचे मारे। समूचे देश के लिए यह गौरव की बात है कि भारत और चीन में होने वाले इन महोत्सवों में जिन भारतीय प्रतियोगियों ने जौहर दिखाए और पदक जीते उनमें से एक भी इन लुटेरों के खानदान से नहीं था। कुछ एक को छोड़कर सभी निम्न और मध्यवर्गीय परिवारों से थे। मैं उन सभी महिला और पुरुष प्रतियोगियों को सलाम करता हूं जिन्होंने अपनी मेहनत के बल पर अकथनीय मुश्किलों का सामना करते हुए भी प्रतिभा को निखारकर इन आयोजनों में भागीदारी की और अपनी सारी उपलब्धियों को मात भूमि के गौरव के आगे समर्पित किया। देश, इन्ही से भारत बना हुआ है वरना लुटेरे तो अपनी माँ बेंच देने पर तुले हुए हैं...

❍ ❍ ❍

बिहार में चुनाव हुए। इससे पहले उत्तर प्रदेश में हुए थे। टी.एन. शेषन ने चुनाव आयुक्त की भूमिका में जो परिवर्तन लगभग सत्रह-अठारह साल पहले किए थे, उसका नतीजा सामने है। उनके बाद आए चुनाव आयुक्तों ने भी अपने दायित्वों को निभाने में सतर्कता बरती। आशा है कि देश के अन्य विभागों का प्रभार भी भविष्य में ऐसे लोगों के जिम्मे आएगा कि सूरते हाल बदलेगा.....

बिहार की जनता ने इस चुनाव में सरकार का काम देखा और उसे लगा कि पिछली सरकारों से इस सरकार का काम तुलनात्मक रूप में बेहतर रहा है। जनता ने नितीश कुमार को दुबारा सत्ता सौंपी है। यह वही प्रदेश है जिसने लालू यादव को तीन टर्म दिया था और लालू यादव ने अपने टर्म में जनता को सिवाय बेइज्ज़त करने और झांसा देने के अलावा अपनी सम्पत्ति को बढ़ाने का काम किया। उन्होंने तो अपने दरवाज़े पर उम्मीद लेकर आई जनता को जिस तरह दुत्कारा और हटवाया उस तरह कोई कुत्ते को भी नहीं दुत्कारता। मैंने यह किसी टी.वी. चैनेल के न्यूज़ आइटम में जब देखा तभी कहा कि बस अब बहुत हो गया लालूजी.. अब आपके पतन का समय आ गया है....

नितीश कुमार को करना यह है कि वह ज्योति बसु होने से बचें... समझदार को इशारा काफ़ी है...

❍ ❍ ❍

सचिन ने कल यानी 19 दिसम्बर 2010 को फिर शतक लगाया। सेन्चुरियन टेस्ट में इस शतक से टेस्ट मैंचों में उनके शतकों की संख्या ने अर्धशतक का आंकड़ा छुआ। यह उपलब्धि जितनी सचिन की है उतनी ही भारत की भी और हर भारतीय की भी। रिकॉर्ड बनते ही टूटने के लिए हैं मगर सचिन के रिकॉर्ड कब टूटेंगे और सचिन उन्हें तोड़ने वालों को बधाई कब देंगे? यह कौन बता सकता है! बड़ी खुशी मिलती है जब कोई नया कीर्तिमान बनाता है और उससे भी अधिक खुशी उस कीर्तिमान बनाने वाले को तब मिलती है जब कोई उसे तोड़ता है। इसी को कहते हैं स्पोर्ट्समैन स्पिरिट। निकट परिवार की ओर से हिन्दुस्तान के इस हीरो को हार्दिक बधाई और कोटिशः आशिष... प्रभाष जोशी ने अगर यह मैच देखा होता तो उनकी ज़िन्दगी मैच में हार होने के बावजूद बढ़ गई होती. .. हालांकि इस मैच में भी भारतीय टीम हार गई थी और जिस मैच को देखकर वे मरे उसमें भी टीम हारी थी.... मेरे इस वाक्य पर भी गौर किया जाय...

❍ ❍ ❍

इस अंक के लिए जितने जोशोखरोश के साथ रचनाकारों ने उत्साह और सहयोग दिया वह रिश्तों में उस ऊष्मा का एहसास कराता है जो इन दिनों गायब होती जा रही है। वयोव द्ध रचनाकार जगन्नाथ त्रिपाठी 'शारदेय' के व्यक्तित्व और कृतित्व पर काम कराकर मैं एक परम्परा की शुरूआत कर रहा हूं कि उन रचनाकारों पर भी काम हो जो समय की गर्द के नीचे कहीं दूर जा दबे हैं। स्वर्गीय श्रीप्रकाश श्रीवास्तव उन कवियों में रहे हैं जिनकी सादगी और शायरी को केवल सलाम किया जा सकता है.... अपने समय का जीता जागता दूसरा नीरज हमारे बीच समय से पहले उठ गया। यह हम सबकी असमर्थता है कि उसे सहेज नहीं पाए। बचा नहीं पाए। उसका जीना ज़रूरी था क्योंकि वही लिख सकता था– कोई मन का मीत मिले तो मैं रंग घोलकर रख दूं... मैं फूल खिलाकर रख दूं.... दोस्त! शर्मिन्दा हूं कि मैं तुम्हारे लिए कुछ नहीं कर पाया। उस दिन मैं कानपुर में था जब तुम दिगंत में विलीन हुए मगर मुझे पता ही नहीं चला। मैं प्रायः सोचना हूं कि मेरी और तुम्हारी औकात ही क्या है? तुम्हारी लिखी पंक्तियां मुझे याद आ रही हैं... सब धुआं हो गया देखते-देखते.....

❍ ❍ ❍

आज साल 2010 के आखिरी दिन.....

मुझे 'हंस' 2011 के जनवरी अंक का सम्पादकीय पढ़ने को मिला। यादव जी ने जो उपहार मुझे दिया है इससे बड़ा पुरस्कार मुझे अब तक नहीं मिला। यह मेरे और उनके बीच अनकंडीशनल लगाव है जो हमारी मैत्री को हर तरह के स्वार्थ से ऊपर रखे हुए हैं। यह दो मित्रों की वह पारदर्शिता है जिसमें एक-दूसरे को खरी-खोटी सुना सकता है। मैं उनका सम्पादकीय **आपकी बात : आपके पत्र** में देते हुए गौरव की अनुभूति से गुज़र रहा हूं. . नव वर्ष सबके लिए मंगलमय हो.....

❍ ❍ ❍

छपते-छपते :

लोकतंत्र का कीड़ा अरब दुनिया के कई देशों में रेंग गया है। ट्यूनेशिया, इजिप्ट, यमन, जॉर्डेन अल्जीरिया, ओमान और अन्य कई देशों में हैव्स और हैव नॉट्स का आमना-सामना है। अंजाम पर अटकलें लगाना बेवकूफी होगी....

दुखद् समाचार है कि जगन्नाथ त्रिपाठी 'शारदेय' का 16 फरवरी को निधन हो गया है। या मेरे लिए व्यक्तिगत क्षति है ही। साथ ही हिन्दी साहित्य के लिए भी अपूरणीय क्षति है। निकट की ओर से हमारी श्रद्धांजलि।

आपकी बात : आपके पत्र

'निकट' का नया अंक देखा और पूरा पढ़ा। सही है कि संपादकीय के बिना पत्रिका का कोई चेहरा नहीं होता। कहानियों में 'दो पन्ने की औरत', 'कौन सी ज़मीन अपनी' बहुत पसंद आई। मैंने इन लेखिकाओं को भी बधाई दी है।

नरेन्दर बतरा, बैंक ऑफ बड़ोदरा, अबूधाबी।

●●

निकट का महिला रचनाकार अंक मिला। कहानियों में नया तेवर देखने को मिला। तूफान को पात्र बनाकर भी कहानी लिखी जा सकती है या डायरी को भी कहानी विधा में ढाला जा सकता है, यह मैंने पहली बार पढ़ा। लगता है कि इन परिवर्तनों को पहचानने में अपनी व्यस्तता के कारण मैं कहीं पीछे रह गया। सभी कहानियाँ अच्छी हैं। दो पन्ने की औरत, मजबूत कदम, कौन-सी ज़मीन अपनी, तुम उसी दुनिया में रहते हो जो तुमने बनाई है, अच्छी लगीं। नासिरा शर्मा का साक्षात्कार, सम्पादकीय और बलवंत कौर के लेख ने भी प्रभावित किया।

योगेन्द्र मोहन, निदेशक दैनिक जागरण

●●

अंक अच्छा निकला है। कहानियाँ क्रूर सत्य बयान करती हैं। दुनिया ऐसी ही होती जा रही है। रिश्तों में जो क्षरण हो रहा है वह बचकर हमारी अगली पीढ़ी के हिस्से कितना आएगा? चिन्ता होती है। कविताएं भी आज की ज़िन्दगी का आर्डना हैं।

अरुण जैन, भारतीय राजदूतावास, अबूधाबी।

●●

निकट से कौन दूर रह सकेगा? इतनी बेबाकी से लिखा सम्पादकीय कि लगा अभी संभावना शेष है। हम देश के बारे में इतना सोचते हैं मगर देश के रहनुमां हमारे बारे में तो क्या अपने पड़ोसी तक के बारे में कुछ नहीं सोचते। सब एक-दूसरे को अपना ज़हर बेंच रहे हैं।

जी. चन्द्रा, अबूधाबी।

●●

निकट पत्रिका को अपना स्वरूप मिल गया है। रचनाओं के चयन पर अब अधिक ध्यान देने की ज़रूरत है। पिछले अंकों के लिए रचनाकारों से मिले सहयोग ने पत्रिका को खड़ा करने में जो योगदान दिया है उसकी सार्थकता साबित करने का व़क्त आगे है।

राजेन्द्र राव, कानपुर

●●

पत्रिका मिली। महिला रचनाकार अंक ने अपने नाम को सार्थक किया। भरपूर पठनीय सामग्री है। अंक ज़ोरदार निकला है मगर कई जगह प्रूफ की ग़लतियां हैं। आशा है अगले अंकों में और सुधार होगा।

गीताश्री, आउटलुक, नई दिल्ली।

●●

पत्रिक के पिछले सभी अंक अच्छे लगे किन्तु इस अंक से पत्रिका का स्वरूप हिन्दी की चर्चित पत्रिकाओं के बीच स्वयं को स्थापित करता लगा। सभी कहानियां अलग-अलग चेहरे दिखाती हैं। निर्मला जोशी और पूर्णिमा बर्मन के गीत पसन्द आए। मीनाकुमारी पर लिखा लेख भी अच्छा है।

संयुक्ता शुक्ला, इलाहाबाद

●●

सम्पदाकीय ने फिर होश उड़ाए। कहानियों में मजबूत कदम, दो पन्ने की औरत, तूफान की डायरी और खेल अच्छी लगीं। जया जादवानी का अपना अलग ही रंग है। वहीं उनकी पहचान है। प्रज्ञा पाण्डेय, अंजना संधीर और रचना श्रीवास्तव की कविताओं के अलावा डॉ. जोराम आनिया ताना की लोकगीत पर आधारित कथानुमा कविता अच्छी लगी।

महेश प्रसाद, गाजियाबाद

●●

दुबई से आए एक मित्र के घर में निकट का महिला विशेषांक देखा। पत्रिका मांगकर पढ़ी। हिन्दुस्तान से बाहर रहते हुए इस स्तर की पत्रिका निकालना एक प्रशंसनीय काम है। जया जादवानी, रजनी गुप्त, इला प्रसाद, गीताश्री, उषा राय, अर्चना पेन्यूली की कहानियां मन को छूती हैं। सुधा ओम ढींगरा की कहानी सदियों से चले आ रहे सच जर-ज़मीन-जोरू के पीछे की हिंसा का बार-बार होता पर्दाफाश है। कविताओं में प्रज्ञा पाण्डेय ने नया नाम होते हुए भी प्रभावित किया। बलवंत कौर के लेख से साफ है कि औरत अब वह नहीं रही जो छुई-मुई कहलाती थी। आवरण प ष्ठ ने भी नज़रें बांध रखीं।

कमला प्रसाद, देवरिया।

●●

निकट को पास पाने का लम्बा इन्तज़ार ख़त्म हुआ। अंक अच्छा निकला है। पत्रिका में प्रूफ की गलतियां हैं। मेरा मोबाइल नम्बर भी गलत छपा है।

सुशीला पुरी, लखनऊ।

●●

निकट का महिला विशेषांक मिला। नासिरा शर्मा का बेबाक इण्टरव्यू और सम्पादकीय अंक की उपलब्धि है। लेकिन क्या आपको नहीं लगता कि आपमें नाराज़गी का अंश कुछ ज़्यादा ही भरा हुआ है? हिन्दुस्तान का लोकतंत्र इतना भी बुरा नहीं कि उसे गरियाया ही जाए। कहानियां, कविताएं और गीत सभी कुछ पठनीय है। संपादक जी, समझ में नहीं आया कि मोक्ष से सहवास कैसे होता है? यह सुशीला पुरी की कविता में है। बताएंगे?

दलसिंगार, छपरा।

●●

निकट अंक- 4 मिला। कमाल है भाई ! कोई इतना भी तल्ख हो सकता है यह संपादकीय से जान सका। आपकी पत्रिका से पहला परिचय ही इतना प्रगाढ़ हुआ है कि अब हर अंक चाहिए। आवरण ने बहुत प्रभावित किया। मुझे लिखें कि आजीवन सदस्यता के लिए कितना पैसा कहां देना है। नासिरा शर्मा को हमारी शुभकामनाएं।

कुछ तो है कि हस्ती मिटती नहीं हमारी..

रविकुमार, सहारनपुर

डॉ. उषा राय की कहानी खेल ने बता दिया कि गेंद केवल ठोकर खाने के लिए नहीं बनी है। उसकी अपनी मर्ज़ी भी है। अब औरत की मर्ज़ी भी चिह्नित होने लगी है। कभी-कभी प्रतीक ज़्यादा सशक्त ढंग से अपनी बात कह जाते हैं। बधाई।

श्याम सुंदर, भागलपुर।

●●

निकट का नया अंक पत्रिकाओं की भीड़ में भी अलग दिख रहा है। अगले अंक की प्रतीक्षा अभी से होने लगी है। नासिरा शर्मा के साथ अमरीक सिंह दीप की बातचीत असरदार है।

सविहा अनवर, दुबई

●●

हिन्दी में पत्रिका, वह भी अबूधाबी से। तबीयत खुश हो गई। कविताओं से शुरू किया तो फिर सब कुछ पढ़ डाला। जया जादवानी की कहानी यादगार रहेगी। निर्मला जोशी के गीत बहुत सुन्दर हैं। रचनाएं हमें जीवन से जोड़ने में कामयाब हैं।

अजय मिश्रा, अबूधाबी।

●●

न जाने कितने साल बाद हिन्दी की पत्रिका हाथ में ली है। इण्टर तक हिन्दी पढ़ी थी। उसके बाद कांपिटिशंस और नौकरियों के चक्कर में कभी याद नहीं रहा कि हिन्दी में भी पढ़ने के लिए कुछ है। इस पत्रिका ने मेरे कई भ्रम तोड़े। निकट के सुन्दर भविष्य की कामना करता हूँ।

चन्द्रकुमार, बैंगलूरू।

●●

मुझे विश्वास था कि निकट का रूप रंग धीरे-धीरे ही सही मगर बदलेगा ज़रूर। मैंने सभी अंक पढ़े हैं। सामग्री के लिहाज़ से सभी अच्छे हैं मगर आकर्षण की द ष्टि से यह अंक पिछले अंकों से बहुत आगे है।

धर्मेन्द्र श्रीवास्तव, श्रीगंगानगर, राजस्थान।

●●

निकट के अगले अंक निस्सन्देह बेहतर होते जाएंगे और उनकी उम्मीदों पर ज़रूर खरे उतरेंगे जिनको इससे काफ़ी आशाएं हैं।

प्रज्ञा पाण्डेय, लखनऊ,

●●

और अन्त में निकट के सरोकारों पर राजेन्द्र यादव का लंबा पत्र और 'हंस' का सम्पादकीय जनवरी 2011

राजेन्द्र यादव सम्पादक 'हंस'
नई दिल्ली 110002

प्रिय कृष्ण बिहारी

नए वर्ष की शुभकामनाएं और 'निकट 4' के नए अंक के लिए मेरी बधाइयां,

कल ही मुझे 'निकट 4' का अंक मिला। इस बार प्रस्तुति ज़्यादा साफ़-सुथरी है। जाहिर है, सबसे पहले मैंने तुम्हारा संपादकीय और पाठकों के पत्र पढ़े। तुम्हारे पास पारदर्शी भाषा और बेबाक चिंतन है– बात को खरे और खड़े ढंग से कहते हो। रचनाएं परिचित लेखिकाओं की हैं। उन्हें बाद में पढ़ूंगा।

मगर मैं लगातार सोच रहा हूँ कि मुझे 'निकट' क्यों पढ़ना चाहिए? क्या आबूधाबी से निकलना ही इसे पढ़वाने का मुख्य आकर्षण है? क्या यह पत्रिका भारत में रहकर नहीं निकाली जा सकती थी? सच पूछो तो मुझे 'निकट' में ऐसा कुछ नहीं मिला, जो इसे यू.ए.ई. से निकाले जाने को जस्टिफाई कर सके। तुम्हारी चिंताएं भारत और भारतीय राजनीति को लेकर हैं, रचनाएं उन्हीं लोगों की हैं जो यहाँ की पत्रिकाओं में भी छपते ही रहते हैं, फिर क्या है जो इसे वहां से जोड़ रहा है?

तुम वहाँ 25 साल से बसे हुए हो और एक दिन चदरिया ज्यों-की-त्यों धरकर चले आओगे। तुम्हारे जैसे सैकड़ों लोग वहां होंगे जिन्होंने अपनी जवानी और अपना सर्वश्रेष्ठ वहां दिया है, मगर ऐसा क्यों लगता है कि सबके सब परम अनासक्त भाव से वहां की कमाई को उलीच-उलीच कर भारत को सींच रहे हैं, सच है कि जो भी गए हैं; वे चाहे व्यवसायी हों, बुद्धिजीवी हों या मेहनतकश लोग, वहां कमा-कमा कर आराम से रहने और घर भेजने के लिए ही गए हैं, मगर क्या वे सचमुच वहां के जीवन से इतने असंप क्त और अछूते हैं? निश्चय ही बहुत से राजनैतिक, आर्थिक और सामाजिक कारण हैं कि हम लोग वहां के लोगों या समाज से घुल-मिल नहीं पाते, कामकाजी ढंग से मिलते हैं और वापस अपने-अपने खोलों में लौट आते हैं। हमारे अपने 'घेटों' हैं, अलग बंद दुनिया है, यहां अपने रीति-रिवाज हैं, वार-त्योहार हैं, धार्मिक अनुष्ठान, प्रतिस्पर्द्धाएं और पारस्परिकताएं हैं, हरेक की जड़ें भारत में ही हैं, वहां के लोगों से शायद सामाजिक-सांस्कृतिक संवाद नहीं है, पारिवारिक-धार्मिक का तो सवाल ही नहीं है।

यू.ए.ई. ही क्यों, मेरा ख़्याल है यही स्थिति हर उस जगह की है जहां भारतीय दो-एक पीढ़ियों से बसे हुए हैं, इंग्लैंड अमेरिका इत्यादि।

अमेरिका में ज़रूर कुछ भारतीय नाम वहां के राजनैतिक, सामाजिक और अब आर्थिक क्षेत्रों में ऊपर की पंक्तियों में चमकने लगे हैं। मगर सवाल यही है कि अपने और छूटे हुए परिवार के लिए आर्थिक साधन देने के अलावा इन आप्रवासियों ने भारत के लिए क्या किया? बल्कि मैं तो कहूंगा कि उन्होंने अपने अपरिमित साधनों से भारतीय समाज की जड़ता, अंधविश्वास और धार्मिक कट्टरताओं को ही बढ़ावा दिया। वे यहां शादी-ब्याह, दुल्हन की तलाश, जन्मदिन, मुंडन पर आते हैं, दुनियाभर के रीति-रिवाज निभाते हैं, दहेज से लेकर पूजा-पाठ कर्मकांडों में खुले-हाथ सहयोग करते हैं और समाज को वैसा ही जड़, परिवर्तनहीन छोड़कर चले जाते हैं, वे जिस भी देश में रहते हैं, वह गतिशील, कर्मठ और आधुनिक समाज है, एक से एक वैज्ञानिक संसाधन वहां उपलब्ध हैं– क्यों यह सारा परिवेश इन मेहमान भारतीयों को भीतर से बदलने, नई द ष्टि और समझ देने में असमर्थ है? वे यहां के विकास और जागरूकता से अपने आपको अछूता ही नहीं रखते, उलटे यहां की धर्मांधता, सांप्रदायिकता और कट्टरता के लिए खुलकर आर्थिक सुविधाएं उड़ेलते रहते हैं। राम-मंदिर के लिए उन्होंने सोने की ईंटें ही नहीं भेजी, हवाला और दूसरे तरीकों से करोड़ों-अरबों

की मदद की। शायद उन श्रद्धालुओं को यह भी पता नहीं कि उस सबको यहां कौन खा-डकार गया।

वस्तुतः विदेशों में रहने वालों को सबसे अधिक चिंता अपनी 'भारतीय पहचान' को बनाए रखने की है– इस पहचान का सीधा अनुवाद वे 'हिंदू पहचान' के रूप में करते हैं। दुनिया-भर के साधु-संत, भगवान और देवता यहां से जाकर उनसे धन लूटते और अपने भव्य आश्रम बनाते हैं– यहां भी और वहां भी। जिस हिंदू-धर्म को वे बीस-पचास साल पहले लेकर गए थे, उसे ही बंदरिया के बच्चे की तरह छाती से लगाए अपने धर्म की रक्षा का आत्मसंतोष निचोड़ते रहते हैं। वे शायद ही अपने से कभी पूछते हों कि मुख्यधारा और लगातार हलचलों से कटा यह धर्म अब जीवंत विश्वास रह भी गया है या नहीं। शायद यह विदेशों में बसे भारतीयों की विकल्पहीनता और विपरीत स्थितियों के दबाव ही हैं कि वे भीतर-बाहर से कट्टर हिंदू हो जाते हैं। वैचारिक भोजन के लिए 'सांस्कृतिक राष्ट्रवाद' है ही, जो इनमें हिदू-संस्कृति की प्राचीनता, महानता और 'वैज्ञानिकता' का ज़हर भरता रहता है। वहां के लोगों से भी उनके संबंध सहज नहीं होते। हो सकता है इन्होंने भौतिक उन्नतियां कर ली हों, मगर आध्यात्किता महानता तो हमारी ही बपौती है शायद वे कभी नहीं भूल पाते कि सदियों से मुसलमान आक्रमणकारियों ने हमें किस तरह रौंदा है– वे हमारे जन्मजात शत्रु हैं। आश्चर्य की बात है कि आक्रमणकारी, क्रूर और आतंकवादी सिर्फ़ मुसलमान हैं, अंग्रेज नहीं। इनकी राष्ट्रीयता इतिहास में अंग्रेजों की गुलामी का स्वागत करती है। हालांकि विदेशों के बेगाने परिवेश में उन्हें यहां के मुसलमान ही नहीं पाकिस्तानी और बांग्लादेशी भी अधिक अपने लगते हैं। वे अपने धर्मों को उसी तरह एक सामान की तरह ले गए हैं जैसे यहां से पापड़-बड़ियां, अचार, मसाले ले जाते हैं।

●●

तो महर्षि कृष्ण बिहारी जी, तुम, तेजेन्द्र शर्मा और कुछ गिने-चुने लोगों को छोड़कर यह है वहां का हिंदू परिवेश और वह हिंदू तुम्हारे भीतर भी कभी-कभी कुलबुलाने लगता है– ख़ास तौर से तब, जब तुम वहां के अनुभवों और स्थितियों के बीच यहां के मुसलमानों की समस्याओं को 'वैज्ञानिक' और 'तटस्थ द ष्टि' से समझाने की कोशिश करते हों। कह सकते हो कि वहां तुम्हारे बहुत से मुसलमान दोस्त और परिचित हैं लेकिन परिवेश तो सारा वही है जो तुम्हारे भीतर अनुकूल प्रतिक्रिया पैदा नहीं करता। शीबा असलम फ़हमी के 'हंस' में छपे लेखों की प्रतिक्रिया में तुम जो लिखते रहे हो, उनमें मुझे वही गंध आती है। चूंकि तुम कुछ लोग यहां निरंतर आते-जाते रहते हो, और हिंदी के उस परिवेश के बीच संवाद बनाए हुए हो जो मोटे रूप में धर्मनिरपेक्ष हैं, इसलिए तुम्हारे द ष्टिकोण में एक उदारता और खुलापन भी आ गया है,मगर सब मिलाकर विपरीत वातावरण में अपने को सुरक्षित-सम्मानित बनाए रखने की सामाजिक मनोव त्ति तो है ही। हां तुम लोगों की कहानियों में वहां के पात्र, उनके साथ अपने रोमानी संबंधों वाले कथानक भी हैं, मगर सब मिलाकर अपनी ही बंद दुनिया है। मुझे लगा वहां बसी स्त्रियां ज़्यादा सामाजिक संवाद रखती हैं, पास-पड़ोस, बाज़ार, स्कूल, अस्पतालों में उनका आना-जाना है। अब 'निकट' के इस अंक का संपादकीय ही लो, उसमें यहां के चुनाव, मायावती की राजनीति सब कुछ है, अगर नहीं है तो वहां के सामाजिक प्रश्न, भारतीयों के साथ वहां के नीति-निर्माताओं के व्यवहार और अंतर्संबंध या अनेक वे समस्याएं जो वहां और यहां के लोगों के द्वंद्वात्मक संबंधों से पैदा होती हैं– जैसे उषा प्रियंवदा ने शुरू में अमेरिका जाकर दोनों संस्कृतियों के द्वंद्व की कहानियां लिखी थीं। आज भी शायद हर प्रवासी लेखक का कथ्य यही है। वहां के अपने भारतीय समाजों, उनके विभिन्न वर्गों, क्षेत्रीयताओं की जीवन स्थितियां, मानसिकताएं भी तो रही ही होंगी? मुझे बताओ, 'निकट' का यह अंक लखनऊ या दिल्ली से निकलता तो क्या इसका रूप यही नहीं होता?

माफ़ करना, इस द ष्टि से मैं कृष्णमोहन जी की 'अन्यथा' को ज़्यादा नंबर दूंगा– वहां अमेरिका और भारत के बौद्धिक और रचनात्मक संवाद के लिए स्पेस ज़्यादा है।

बहरहाल, अगर बात सिर्फ़ इतनी ही हो कि तुम वहां बैठकर हिंदी की एक अच्छी पत्रिका निकालकर ऋण-शोध कर रहे हो तो तुम्हारी तारीफ़ करूंगा, मगर ईमानदारी की बात यह है कि जहां के साधन तुम इस्तेमाल कर रहे हो, दस-बीस प्रतिशत उधर भी कुछ ध्यान दो– आख़िर वहां भी कुछ लिखने-सोचने वालों को ख़ोजकर उनका साथ लिया ही जा सकता है।

हां, थोड़ी देर के लिए यहां गिरमिटिया भारतीयों को अलग़ाना जरूरी है। वे मॉरिशस, फ़िजी इत्यादि में सौ-डेढ़ सौ सालों में बसे हैं : गरीब श्रमजीवी लोग रहे हैं। वे अब वहां के जीवन में इतने घुल-मिल गए हैं कि उन्होंने उसी को अपना देश मान लिया है। मगर भावनात्मक रूप से भारत से इतने जुड़े हैं कि उन्होंने वहीं अपने काशी-मथुरा, गंगा-यमुना बना लिए हैं। उनकी स्म तियों, संस्कारों में पगा हुआ भारत, उनके स्रोत स्थान आज भी जीवित हैं, कभी-कभी वे इसी से खिंचे हुए देश आते हैं और भ्रम-भंग के शिकार होकर लौट जाते हैं। यहां के जीवन में उनका न हस्तक्षेप है, न योगदान। वे नॉस्टेलाजिक (ग हासक्त) तीर्थ-यात्री की तरह है। वे वहीं के सामाजिक-आर्थिक और राजनैतिक जीवन के महत्वपूर्ण घटक हैं।

चलते-चलते एक सख्त बात कह ही दूं। मान लीजिए यहां का पैन-इस्लाम (सार्वभौमिक इस्लाम) का मारा मुसलमान अगर चौबीस घंटे पाकिस्तान, सऊदी अरब इत्यादि के गीत गाता है या अपनी निष्ठा उन देशों में देखता है तो क्या हम उसे देशद्रोही नहीं कहेंगे?

मैं निश्चय ही तुम्हें हतोत्साहित नहीं कर रहा, सिर्फ बात का दूसरा पक्ष रख रहा हूँ। अगर तुम इससे सहमत नहीं हो तो कृपया इस पत्र को अनलिखा मान लो। तुम सचमुच हिंदी के लिए बहुत बड़ा काम कर रहे हो। ये या इसी तरह की बातें मैं पहले भी अनेक बार लिख-बोल चुका हूं, मगर 'निकट' के बहाने उन्हें दुहराने के प्रलोभन को रोक नहीं पाया...

संस्मरण

अपनी परछाहीं को भेद-भेद जाते अज्ञेय

राजेश जोशी

पुल पर झुका खड़ा मैं देख रहा हूँ
अपनी परछाहीं
सोते के निर्मल जल पर
तल पर, भीतर,
नीचे पथरीले रेतीले थल पर :
अरे, उसे ये पल पल
भेद भेद जाती हैं
कितनी उज्ज्वल
रंगारंग मछलियाँ
(जीवन छाया)

किसी रचनाकार की अपनी एक आत्मछवि ऐसी बन जाती है कि उसके व्यक्तित्व के दूसरे सारे पक्ष अद ष्ट रह जाते हैं। कभी-कभी रचनाकार स्वयं भी अपनी ही छवि में इस हद तक कैद हो जाता है कि अक्सर उसे तोड़ नहीं पाता। अज्ञेय की समस्या इससे कुछ भिन्न है, वह अपनी छवि को कई-कई बार तोड़ते हैं, अपनी प्रचलित मुद्रा से कई बार बाहर निकलते हैं। अज्ञेय की कविता **चीनी चाय पीते हुए** की दो पंक्तिया हैं– **कितनी दूर जाना होता है पिता से/पिता जैसा होने के लिए !** शायद अपने मूल स्वभाव की बनक के पास आने के लिये ही अज्ञेय कई बार उससे बहुत बाहर, अपने स्वभाव की लगभग विपरीत हदों तक जाते दिखते हैं। कभी क्रांतिकारी संगठन के साथ, कभी राहुल सांस्कृतायन के साथ किसान आंदोलन में, कभी फासिज़्म विराधी अभियान का आयोजन करते और कभी फौज़ में। लेकिन उनकी एक ख़ास तरह की गुरु गंभीर छवि की रेख इतनी बड़ी है कि अज्ञेय के दूसरे तमाम पक्ष, सारे मूडस अक्सर उसकी ओट हो जाते हैं। सत्तर के दशक में नया प्रतीक शुरु हुआ था। नया प्रतीक को वैसी प्रतिष्ठा हासिल नहीं हुई जैसी प्रतीक को हुई थी। एक हद तक अज्ञेय स्वयं भी उसे वह स्वरूप नहीं दे पाये जो उन्होंने कभी प्रतीक को दिया था। नया प्रतीक में लेकिन एक कॉलम छपता था भरती का प ष्ठ, जिसे अज्ञेय लिखते थे। यह अज्ञेय की गहन गंभीर छवि से उन्हें कई बार बाहर लाता है। इसमें उन्होंने अनेक रचनाकारों की चुटकियाँ लीं। अशोक बाजपेयी ने उन्ही दिनों भोपाल में एक व्याख्यान दिया था जिसमें उन्होंने साहित्य को एक कसाईखाना कहा था। अज्ञेय ने अशोक बाजपेयी के इस कथन पर कई मज़ेदार टिप्पणियाँ की थीं। इसी कॉलम में उन्होंने हँसी की ताकत पर एक बहुत महत्वपूर्ण टिप्पणी लिखी थी। जो स्पेन के तानाशाह फ्रांको के आदेश और उसके हश्र के बारे में थी।

राजेश जोशी

जन्म :18 जुलाई 1946, नरसिंहगढ़ (मध्य प्रदेश)
प्रमुख कृतियाँ : समरगाथा (लम्बी कविता), एक दिन बोलेंगे पेड़, मिट्टी का चेहरा, दो पंक्तियों के बीच (कविता संग्रह), पतलून पहना आदमी (मायकोवस्की की कविताओं का अनुवाद), धरती का कल्पतरु(भ तहरि की कविताओं का अनुवाद)
विविध कविता संग्रह : ''दो पंक्तियों के बीच'' के लिये 2002 का साहित्य अकादमी पुरस्कार।
संपर्क : 11 निराला नगर, दुश्यंत कुमार त्यागी मार्ग, भदभदा रोड, भोपाल 462003
दूरभाष : 07552770046

कैसे सिर्फ़ हँसी ने उस तानाशाह के आदेश को एक हास्यास्पद लतीफे में बदल दिया और तानाशाह को वह आदेश वापस लेना पड़ा। हंसी की ताकत के बारे में ऐसी कोई दूसरी टिप्पणी कम से कम हिन्दी के किसी साहित्यकार ने लिखी हो याद नहीं पड़ता। मैंने याददाश्त के आधार पर ही उस टिप्पणी में व्यक्त किस्से को अनेक छोटी बड़ी गोष्ठियों में सुनाया था और आज भी सुनाता रहता हूँ। इसी तरह उन्होंने रघुवीर सहाय और सर्वेश्वर पर चार-चार पंक्तियों की कुछ चुटकी लेती हुई कविताएँ भी लिखीं थीं। पता नहीं भरती का प ष्ठ वाले कॉलम में लिखी गयीं अज्ञेय की टिप्पणियों और कवियों पर ली गयीं काव्यात्मक चुटकियाँ कहीं किसी किताब में संकलित हुई या नहीं। ग्रंथावली आने के बाद इन टिप्पणियों को दुबारा देखा जा सकेगा। अज्ञेय की कविताओं में भी अनेक ऐसी रचनाएँ गाहे बगाहे मिल जाती हैं जो उनकी छवि को अगर पूरी तरह तोड़ती नहीं तो कहीं न कहीं उस पर खरोंच तो डालती ही हैं। एक आटोग्राफ या रेंक रे रेंक गधे जैसी दर्जनों कविताएँ याद कर सकता हूँ। सत्तर के दशक से आज तक मैंने अनेक मकान बदले। मकान बदलने में कई किताबें और कई पत्रिकाएँ खो गयीं। नया प्रतीक के सारे अंक जाने कहाँ-कहाँ छूट गये। सिर्फ़ जापानी साहित्य पर निकाला गया एक विशेषांक ही किसी तरह मेरे पास बचा हुआ है। जापानी कविता के प्रति अज्ञेय में एक ख़ास किस्म का लगाव नज़र आता है। उनका अकेला नाटक ***उत्तर प्रियदर्शी*** भी कुछ-कुछ काबुकी शैली में लिखा गया था। प्रभात गांगुली इस नाटक को खेलने के बारे में अक्सर ही अज्ञेय से बात करते थे। दुर्भाग्य से यह नाटक अज्ञेय के निधन के बाद ही प्रभात दा कर पाये।

अज्ञेय की छवि ऐसी थी कि वह सहजता से अपने निकट आने की इजाज़त नहीं देती। वे आसानी से नहीं खुलते थे। उनके

व्यक्तित्व की भव्यता और उनके कवि का वैभव ही नहीं, उनकी जानकारियों की बहुलता का भी एक आंतक था। उनके निकट जाने में एक संकोच भी होता और एक किस्म का डर भी बना रहता। यह छवि साहित्यिकों के बीच शायद कम ही टूट पाती थी। साहित्य की दुनिया से बाहर लेकिन अज्ञेय को देखना शायद अलग अनुभव था। ऐसा अवसर मुश्किल से ही हाथ आता था। रंगश्री लिटिल बैंले ट्रुप 1984 में स्थायी रूप से भोपाल आ गया था। प्रोफेसर्स कॉलोनी में एक मकान किराये से लिया गया था। उसमें लिटिल बैले ट्रुप के प्रमुख कोरियोग्राफर प्रभात गांगुली और बैले ट्रुप की सचिव और सर्वेसर्वा गुल वर्धन उस मकान में रहती थीं और उसी में बैले ट्रुप का आफ़िस भी था। बैले के कलाकारों की नियमित रिहर्सल गाँधी भवन के हाल में होती थी। अज्ञेय का एक बहुत ही आत्मीय रिश्ता इस ग्रुप से, प्रभात दा और गुलदी से था। मैं भी लिटिल बैले ट्रुप से जुड़ा हुआ था। उसकी कमेटी में सदस्य था। रंग श्री लिटिल बैले ट्रुप गुल वर्धन और शांति वर्धन ने 1952 में स्थापित किया था। शांति वर्धन, गुल वर्धन, नेमिचंद्र जैन, रेखा जैन आदि एक समय में भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी के सेन्ट्रल स्काब्ड के सदस्य थे। इस सेन्ट्रल स्काब्ड के बाद ही इप्टा (इंडियन पीपुल्स थियेटर एसोसिएशन) का गठन हुआ था। संभवतः 1956 में प्रगतिशील लेखक संघ और इप्टा को विधिवत रूप से भंग कर दिया गया था। शांति वर्धन ने लिटिल बैले ट्रुप का गठन शायद इससे कुछ समय पहले ही कर लिया था। शांति दा को यक्ष्मा की बीमारी हो गयी थी, उस समय तक यक्षमा एक असाध्य रोग था। अपनी अस्वस्थ्यता के बावजूद शांति दा ने रामायण और पंचतंत्र जैसे कुछ अविस्मरणीय बैले तैयार किये थे। जल्दी ही शांति दा का निधन हो गया। तब तक लिटिल बैले ट्रुप बम्बई में था। शांति दा के निधन के बाद ग्रुप को बचाने की जिम्मेदारी गुलदी पर आ गयी। शांति दा, गुल तथा प्रभात गांगुली उदय शंकर के अल्मोड़ा के बैले स्कूल के साथी थे इसलिए शांति दा के बाद प्रभात गांगुली रंगश्री के मुख्य कोरियोग्राफर बनाये गये। प्रभात गांगुली भी इप्टा में रह चुके थे। उसके बाद वह शांति वर्धन के इण्डियन रिनेसाँ से जुड़े और 1959 में लिटिल बैले ट्रुप से जुड़ गये थे। गुल वर्धन के व्यक्तिगत परिचय जवाहराल नेहरू और इंदिरा गाँधी से भी थे। कपिला वात्स्यायन से भी गुलदी की मित्रता थी। शायद इसी तरह अज्ञेय रंगश्री लिटिल बैले ट्रुप के संपर्क में आये होंगे। अज्ञेय ने अपने निजि संग्रह से अनेक किताबे रंगश्री की लाइब्रेरी को दी थीं। अज्ञेय ने अपने संपादकत्व में दिनमान के एक अंक में लिटिल बैले ट्रुप पर विशेष सामग्री प्रकाशित की थी। बंबई के बाद रंगश्री को ग्वालियर आना पड़ा और उसके बाद स्थाई रूप से यह संस्था 1984 में भोपाल आ गयी। रंगश्री लिटिल बैले ट्रुप से अज्ञेय के संबंध जीवन भर बने रहे। प्रभात गांगुली और अज्ञेय में दिलचस्प किस्म की मित्रता थी। प्रभात दा अज्ञेय से दो वर्ष छोटे थे। शायद इसीलिये प्रभात दा और गुलदी उन्हें अइया कहते थे। अज्ञेय बहुत कम कम बोलते थे और प्रभात गांगुली बहुत बातूनी थे।

शायद 1986 के अन्तिम दिनों में रंगश्री लिटिल बैले ट्रुप की वार्षिक बैठक थी। अज्ञेय जी भी आये हुए थे। मीटिंग समाप्त होने के बाद प्रभात दा और गुलदी के घर में ही सब लोग थे। लती दोपहर में मीटिंग के बाद रसरंजन शुरू हुआ। मुझे इस समय अज्ञेय की एक कविता की याद आ रही है। यह कविता ग्वालियर में 1968 में लिखी गयी थी। इस कविता का कोई संबंध रंगश्री से शायद न हो या हो भी। लेकिन इतना तय है कि यह कविता ऐसी ही किसी दोपहर को याद करते हुए लिखी होगी। इस प्रसंग में उस कविता को याद करने की इच्छा हो रही है। कविता का शीर्षक है– **पहली बार जब शराब।**

पहली बार
जब दिन दोपहर में शराब पी थी
तब हमजोलियों से ठिठोलियाँ करते
सोचा था :
कितने खतरनाक होते होंगे वे लोग
जो रात में अकेले बैठ कर पीते होंगे?

आज
चाँदनी रात में
पहाड़ी काठघर में अकेला बैठा
ठिठुरी उँगलियों में ओसनम प्याला
घुमाते हुए
सोचता हूँ :
इस प्याले में
चाँद की छाया है

जाड़ों की सिहरन
झर चुके फूलों की अनभूली महक
बीते बसन्तों की चिड़ियों की चहकः
इसी को और इस के साथ अपनी
(अब जैसी भी है)
किस्मत को सराहिएः
और कोई हम प्याला भला
अपने को क्यों चाहिए ?

यह और बात है कि लिटिल बैले ट्रुप की मीटिंग के उपरान्त वाले रसरंजन में उनके हमप्याला अनेक थे। प्रभात दा के लिये कोई विदेश से डनहिल सिगरेट लेकर आया था। प्रभात दा एक नया पैकेट निकाल कर लाये। अज्ञेय जी की तरफ पैकेट बढ़ाया तो अज्ञेय जी ने सिगरेट के पैकेट को देखा और रुक गये। प्रभात दा ने पूछा कि क्या बिल्कुल छोड़ दी है? अज्ञेय ने थोड़ी हिचक के साथ पैकेट से एक सिगरेट निकाल ली। सिगरेट जलाने से पहले अज्ञेय ने कहा कि यूँ तो सिगरेट छोड़ चुका हूँ लेकिन कभी-कभी एकाध पी लेता हूँ। प्रभात दा खुश हो गये। प्रभात दा ने तत्काल लाइटर से पहले अज्ञेय की सिगरेट जलाई और फिर अपनी भी। मैं उन दिनों काफी सिगरेट पीता था। मुझे सिगरेट पीता हुआ व्यक्ति ज्यादा सहज लगता था। अज्ञेय ने सिगरेट जलाई तो मुझे अच्छा लगा। अज्ञेय को सिगरेट पीते हुए देख कर मुझे महसूस हुआ कि यह अज्ञेय, अज्ञेय की छवि जो हम लोगों के सामने बनी हुई थी उससे बाहर के अज्ञेय हैं। इनसे बातें की जा सकती हैं। हालांकि वहाँ उनसे बात करने के लिये प्रभात दा, गुल दी के अलावा भी

कई लोग थे।

अज्ञेय को कविता पाठ करते सुनने की तीव्र इच्छा मन में थी। मुझे अक्सर लगता है कि किसी कवि का कविता पाठ सुनने के बाद उसकी कविता को पढ़ने से बहुत सी चीजें बदल जाती हैं। आँखें जब उसकी कविता को पढ़ रही होती हैं तो कान में उसकी आवाज़ पढ़े जा रहे शब्दों का पीछा करती है। 1973 में अशोक बाजपेयी ने सांस्कृतिक कार्यक्रमों की एक श्रंखला उत्सव नाम से शुरू की थी। इन कार्यक्रमों के तहत एक कविता की सुबह होती थी। जिसमें पाँच या छह कवि कविता पाठ करते थे। इसमें अनिवार्यतः एक वरिष्ठ कवि होता और दो तीन युवा कवि होते थे। 1979 में कविता की सुबह में छह कवियों का कविता पाठ प्रस्तावित था। जिसमें अज्ञेय, मलयज, सोमदत्त, विष्णु खरे, अरुण कमल और मेरा नाम था। मेरे मन में अज्ञेय को सुनने की जो ललक थी, अज्ञेय के साथ कविता पाठ करने का लालच उससे कहीं ज़्यादा था। अज्ञेय को लेकर साहित्य में जैसी सहमतियों और असहमतियों का वातावरण उस समय था, उसमें यह बात खुलकर स्वीकार करने का साहस मुझमें नहीं था। लेकिन अन्तिम क्षण में अज्ञेय ने आने से इंकार कर दिया और उस कार्यक्रम में वरिष्ठ कवि के रूप में नागार्जुन ने कविता पाठ किया। मन की इच्छा मन में ही दबी रह गयी। इसके कुछ समय बाद शायद कला परिषद में अज्ञेय का एकल कविता पाठ हुआ था। अज्ञेय का कविता पाठ सुनना एक अद्वितीय अनुभव था। उस पाठ में उन्होंने अपनी 'असाध्य वीणा' का पाठ किया था। हर शब्द और हर विराम का इतना सतर्क संयमित पाठ करते मैंने किसी भी दूसरे कवि को नहीं सुना। कविता पाठ के बाद उनसे सवाल जवाब भी हुए। अज्ञेय भारत भवन के कार्यक्रमों में नहीं आते थे। अज्ञेय उन रचनाकारों में थे जिनका आना जितनी महत्वपूर्ण ख़बर होती थी, उनका नहीं आना भी उतनी ही महत्वपूर्ण ख़बर होती थी। सोमदत्त ने एक दूसरा रास्ता निकाला और साहित्य परिषद की एक व्याख्यान माला में उन्हें व्याख्यान देने के लिये राजी कर लिया। शायद माखनलाल चतुर्वेदी व्याख्यान माला का कार्यक्रम था। यह कार्यक्रम मध्यप्रदेश साहित्य परिषद का था लेकिन कार्यक्रम स्थल भारत भवन का बहिरंग था। यह पहला कार्यक्रम था जो भारत भवन में हुआ और उसमें अज्ञेय ने व्याख्यान दिया। भारत भवन को लेकर भोपाल के रचनाकारों का कुट्टी और दोस्ती का संबंध ा चलता रहता था। अज्ञेय जी का व्याख्यान सुनने तो सब गये, मैं भी गया लेकिन व्याख्यान समाप्त होते ही हम लोग वहाँ से बिना रुके चले आये। हमारी पीढ़ी के रचनाकारों में उन दिनों नवीन सागर अज्ञेय जी के निकट सम्पर्क में थे। वे वत्सल निधि ा के कुछ कार्यक्रमों में भी हिस्सेदारी कर चुके थे। दूसरे दिन नवीन सागर ने बताया कि अज्ञेय जी ने मेरे और भोपाल के अन्य युवा रचनाकारों के बारे में पूछा था। वे इस बात को लेकर दुखी थे कि हम लोग व्याख्यान सुनने आये लेकिन उसके बाद उनसे नहीं मिले। मुझे लगा कि नवीन सागर झूठमूठ ही कह रहे हैं। अज्ञेय व्यक्तिगत रूप से मुझे जानते होंगे इसका विश्वास ही नहीं था। लेकिन मन ही मन अपनी इस अशिष्टता का पछतावा होता रहा कि व्याख्यान के बाद मैं उनसे नहीं मिला।

एक शाम अचानक ही मैं रमेशचन्द्र शाह के घर पहुँचा। दरवाज़ा खुला ही हुआ था। दस्तक दी तो ज्योत्स्ना जी ने कहा आ जाइये। अंदर पहुँचा तो बैठक में एक कुर्सी पर अज्ञेय जी बैठे हुए थे। ज्योत्स्ना जी ने मुझसे कहा आओ, रमेश बाज़ार गये हैं और मुझे जरा खाना बनाना है तब तक तुम अज्ञेय जी के पास बैठो। यह कह कर ज्योत्स्ना जी अंदर चली गयीं। मैं नमस्कार करके अज्ञेय जी के सामने वाली कुर्सी पर कुछ सिकुड़ा हुआ सा बैठ गया। इस तरह अकेले अज्ञेय जी के सामने बैठने में अजीब सा संकोच हो रहा था। उन्होंने कहा आपकी तो कविताएँ नया प्रतीक में छपी हैं। मैंने बहुत धीरे से हाँ कहा। फिर एक चुप्पी हो गयी। वे पत्रकारिता से सम्बन्धित किसी मीटिंग में आये थे। उन दिनों अज्ञेय नवभारत टाइम्स के संपादक थे। वे सर्किट हाउस में ठहरे हुए थे। रमेशचन्द्र शाह का सरकारी आवास सर्किट हाउस के बगल में ही था। कुछ समय पहले ही 'सारिका' ने इस घोषणा के साथ कि अज्ञेय शेखर एक जीवनी का तीसरा खण्ड लिख रहे हैं, नये खण्ड के दो अंश प्रकाशित किये थे। मैं उन अंशों को पढ़ चुका था। साठ के दशक के लगभग उत्तरार्ध में मेरी फुफेरी बहन वसुमति ने मुझे शेखर एक जीवनी का पहला खण्ड पढ़ने को दिया था। तब मैं लेखक नहीं हुआ था। लगभग दस पन्द्रह साल बाद फिर एक बार शेखर को याद करते हुए मैं अपनी स्म ति को खटखटा रहा था। बात करने के लिये ही मैंने अज्ञेय जी से पूछा कि शेखर का तीसरा खण्ड कब तक आ रहा है? अज्ञेय जी ने एक छोटे से अंतराल के बाद कहा 'अख़बार की नौकरी में उपन्यास पर काम करना संभव नहीं है। अभी कुछ दिन यह काम करना पड़ेगा, इससे मुक्त होने के बाद ही उपन्यास पर काम कर सकता हूँ। सोचता हूँ कि जल्दी ही इससे मुक्त हो जाऊँगा' इसके बाद फिर चुप्प लग गयी। मैं सोच रहा था कि

ज्योत्स्ना जी बाहर आ जायें या शाह साहब आ जाते तो मेरे लिये कुछ आसान हो जाता। मैंने फिर एक कोशिश की कि लेकिन शेखर के दो अंश सारिका में प्रकाशित हुए हैं। अज्ञेय जी ने एक दिलचस्प सा वाक्य बोला, 'उपन्यास को तभी आया हुआ मानना चाहिये जब वह आ जाये।' इसके बाद ही कुछ देर में शाह साहब आ गये। कुछ देर बाद अज्ञेय भी सहज हो गये। उसी दिन उन्होंने शमशेर की दो तरह की कविता लिखने और नागार्जुन की कालिदास सच सच बतलाना पर कई बातें की थीं।

अन्तिम बार उन्हें मैंने भारत भवन के अंतरंग के बाहर वाले आंगन में घूमते हुए देखा था। अंदर गोष्ठी चल रही थी और वे कुछ देर पहले ही बाहर निकल कर टहल रहे थे।

• • •

जेल जीवन के सवाक् चित्र

राजेन्द्र राव

आज तो यह सोच कर ताज्जुब होता है कि आज़ादी की चाह एक ऐसी लौ की तरह थी जिस पर हमारे शहीद परवाने की तरह टूट पड़ते और भस्मीभूत हो जाते। उनके लिए त्याग और कुर्बानी जैसे शब्द छोटे और अल्प अर्थी हो गए थे। हंसते-हंसते फांसी चढ़ जाने वाले जाने कितने थे। जेल यात्रा, कालकोठरी और यातना-यन्त्रणा तो मानों बच्चों का खेल बन गए थे। गांधी जी ने तो जेल को अपना वैकल्पिक घर ही बना लिया था। उन्होंने भारत की जेलों को जनता का कृष्ण मंदिर बना दिया। यक़ीन नहीं आएगा नई और आगामी पीढ़ियों को कि एक ऐसा समय भी था जब जेल जाना सामाजिक प्रतिष्ठा और रुतबे का पर्याय बन गया था। बड़े से बड़े समाजसेवी, कर्मठ कार्यकर्ता और नेता तब तक जनमानस में सम्मान नहीं पा सकते थे जब तक वे सत्याग्रह करके जेल का दण्ड न भुगतें। माफी मांग कर छूटना तो दूर, जमानत करवा कर मुक्त होना भी हेय द ष्टि से देखा जाता था।

उत्तर भारत के स्वतन्त्रताकामी समाज में ही नहीं, सशस्त्र क्रांति के सेनानियों में भी अमर शहीद गणेश शंकर विद्यार्थी को बेहद सम्मान की द ष्टि से देखा जाता था। वे जन संगठन, आन्दोलन और स्वतन्त्र पत्रकारिता के क्षेत्रों में आजादी की अलख जगाने में जुटे थे। अक्टूबर 1921 में वे पहली बार जेल गए स्वेच्छा से। 1920 में अवध के किसानों पर ताल्लुकेदारों और जमींदारों के अत्याचार के कारण संघर्ष हुआ और बहुत से निरीह किसान गोली के शिकार हुए। विद्यार्थी जी ने अपने दैनिक पत्र 'प्रताप' में इसका खुलकर विरोध किया, जोकि हुकूमत को नागवार गुज़रा और उन्हें तथा उनके प्रकाशक शिवनारायण मिश्र को तीन-तीन महीने की जेल हुई। वे जेल गए भी, परन्तु उनके मित्रों ने मई 1921 में जमानत देकर उनको छुड़ा लिया। जमानत और मुचलके से बंधे रहने के कारण विद्यार्थी जी आन्दोलन के कार्य में ठीक से शामिल नहीं हो पा रहे थे। इसलिए अक्टूबर 1921 में उन्होंने जमानत रद्द करने की अर्जी दी और जेल चले गए। मई 1922 तक वह जेल में रहे।

वे लिखने-पढ़ने वाले आदमी थे। उन्हें काग़ज-कलम मिलने में देर लगी। जनवरी के अन्त में जेलर के सौजन्य से एक डायरी मिली, जिसमें 31 जनवरी 1922 से 17 मई 1922 तक उन्होंने अपने कुछ अनुभव, कुछ स्फुट विचार संक्षिप्त टीपों के रूप में लिखे हैं। जेल से बाहर आने के बाद उन्होंने जेल के जीवन को क्रमबद्ध और व्यस्थित रूप से एक लेख-माला के रूप में लिखा, जिसका प्रकाशन 'प्रताप' में होता रहा। डायरी में छोटी-छोटी, चुटीली और सारगर्भित टिप्पणियां हैं तो लेख मानो जेल-जीवन की गहरी पड़ताल करते रिपोर्ताज। उनकी जेल डायरी को सुरेश सलिल ने संपादित करके 1981 में प्रकाशित कराया। इस महत्वपूर्ण दस्तावेज़ की ओर हिन्दी जगत् का ध्यान नहीं गया तो, एक कारण यह भी हो सकता है कि स्वतन्त्रता संग्राम के अनेक अप्रतिम योद्धाओं को, जननायकों को पाठ्य पुस्तकों के रचयिता सरकारी इतिहासकारों ने वह स्थान नहीं दिया है, जिसके वे अधिकारी थे। गणेश शंकर विद्यार्थी भी एक ऐसा ही नाम है।

विद्यार्थी जी संवेदनशील पत्रकार थे। उनके पास एक निपुण पत्रकार की वेधक द ष्टि थी तो एक संवेदनशील हृदय भी था। उन्होंने अपने लेखों और डायरी में जैसा देखा, जैसा पाया, निर्भिकतापूर्वक वैसा ही लिखा है। व्यक्तियों के प्रति अधश्रद्धा की झलक उनके चिन्तन में जरा भी नहीं झलकती। जेल में मोतीलाल नेहरू, जवाहर लाल और पुरुषोत्तम दास टण्डन को मिलने वाले 'वी.आई.पी. ट्रीटमेण्ट' का उन्होंने बेबाकी से चित्रण किया है। उन्होंने सत्याग्रह के अपराध में दण्ड पाकर जेल में आने वाले लोगों को सुविधाओं के मामले में वर्गीकृत करने के सरकार के रवैये की कटु आलोचना की है। बड़े नेताओं और प्रभावशाली लोगों को जेल में कपड़े, बिस्तर, खाने और टहलने की जो सुविधाएं मिलती थीं वह साधारण राजनीतिक कैदियों को स्वप्न में भी प्राप्य नहीं थीं। छात्रों, नवयुवकों और आम आदमियों को अन्य अपराधियों के साथ रखा जाता था और उन पर बेइन्तहा जुल्म होते थे। विद्यार्थी जी के मन में यह टीस शिद्दत से उभर कर उनके लेखों में और डायरी के प ष्ठों में उतरी है। जेल के भ्रष्टाचार से दुखी होकर उन्होंने जेल नामक संस्था के उन्मूलन की नसीहत ही दे डाली है। उन्हीं के शब्दों में जेल जीवन की एक झलक देखिए–

''साधारण कैदियों की बहुत बुरी कटती है। उन्हें एक जांघिया मिलता है, एक टोपी और एक नीमस्तानी कुर्ता। एक लंगोटी भी दी जाती है। सवा हाथ लंबी और एक बालिश्त चौड़ी। जांघिया के लिए डोरा या इज़ारबंद नहीं दिया जाता। उसके बिना तो वह पहना भी नहीं जा सकता। कैदी उसे पैदा कर लेते हैं। बर्तन के नाम पर एक तसला और एक कटोरी मिलती है। तसला, लोटा और थाली और सब कुछ काम देता है। गर्मी के दिनों में भीतर बन्द होने के समय उसमें घड़े का काम लिया जाता है। ज़ंग के कारण उसमें रखा हुआ पानी पीने योग्य नहीं रह जाता, परन्तु पीना उसी को पड़ता है। जाड़े से बचने को केवल दो कंबल मिलते हैं। वे भी बहुधा फटे-पुराने..... (उनमें जुंओं और चीलरों

की फ़सल खूब आती है।)''

''गरमी के दिनों में पचास-पचास, साठ-साठ आदमियों का घुस-घुस कर थोड़ी-सी जगह पर शाम से ही पड़े रहना और सोने का यत्न करना या समय-समय निद्रा का धावा मारना, यह जेल का सबसे क्रूर द श्य है। इतने मच्छर और इतनी गरमी होती है कि निद्रा का आना असंभव है। मच्छरों से बचने के लिए साधारण कैदी हम लोगों से कपड़ों के टुकड़े मांगते थे। धोतियां फाड़-फाड़ कर उन्हें दी जाती। वे उसे छिपाकर ले जाते..... रात को उसमें मुंह, हाथ और पैर ढांप कर लेटते थे। तब मच्छरों से रक्षा होती थी।''

''अन्याय यह होता है कि कभी तंग करने के लिए, कभी पैसा वसूल करने के लिए कमजोर आदमियों को ऐसे कामों में लगा दिया जाता है जिसे वह कर नहीं पाते, फिर उन्हें दण्ड दिया जाता है। गालियां और मार तो मामूली चीज़ है।... जिला जेल में मथुरा के श्री मनमोहन चौबे मेरे साथी थे। पहले उन्हें कालकोठरी में रखा गया था और उनसे चक्की पीसने का काम लिया जाता था। एक बार रात को एक सांप कोठरी में निकल आया। वे चिल्ला-चिल्ला कर रह गए, किसी ने उनकी बात नहीं सुनी, रात भर चक्की के ऊपर चढ़ कर, चक्की आदमी की छाती के बराबर ऊँची होती है, समय काटा।''

इस विभीषिका के बावजूद मनुष्य कैसे परिस्थितियों के अनुरूप अपने को ढाल लेता है, इसका अहसास उन्हें कुछ दिन जेल में रहने और कैदियों से मिलने पर हो गया। उन्होंने लिखा है– ''परन्तु उनसे मिलने पर मालूम पड़ता था कि कष्ट तो उन्हें है ही, परन्तु उतना और असह्य नहीं कि जैसा बहुधा समझ लिया जाता है। सारे कष्ट बाहर से, दूर से असह्य या मुश्किल से सहन करने योग्य मालूम पड़ते हैं, परन्तु जब वे सिर पर पड़ जाते हैं, तब कोमल से कोमल स्वभाव वाले भी इन्हें किसी न किसी प्रकार झेल ले जाते हैं। उस घबराहट का पता भी नहीं होता जो पहले होती है और कष्ट सहन करने की हिम्मत आप-से-आप आ जाती है।''

विशेष दर्जा पाए राजनीतिक बन्दी अपने साथियों को साधारण कैदियों की तरह कष्ट उठाते देख कर दुखी होते थे। ''जब विशेष व्यवहार पाने वाले कैदी लखनऊ जिला जेल में जमा किए गए और सैकड़ों युवक राजनीतिक मामलों में ही पकड़े जाकर साधारण कैदियों के बीच में रखे गए, उन्हें कष्ट मिला और कठिन से कठिन परिश्रम करना पड़ा, तब लेखक का ख़्याल है कि उन्हें उन कष्टों की इतनी पीड़ा न हुई होगी जितनी पीड़ा, जितनी चिन्ता उनके कुछ भाइयों को हुई जो विशेष व्यवहार पा रहे थे।''

वस्तुतः यह जेल डायरी जेल-जीवन का एक बदरंग कोलाज़ है। इसमें हरे, लाल या चटकीले रंग नहीं हैं। सफेद और काले रंग हैं, कुछ क्षेत्र 'ग्रे' भी है। जेल के अन्दर एक अलग तरह की दुनिया बसी होती है और उसके अपने कानून-कायदे और संस्कृति, जिस पर शताब्दियों से प्रश्नों और भर्त्सनाओं की बौछार की जाती रही है, लेकिन शायद ही इसके मूल ढांचे में कोई बदलाव आया हो। भारत ही नहीं, अमेरिका और यूरोप की जेले भी अपनी अमानवीय जीवन स्थितियों के लिए कुख्यात हैं। इस सिलसिले में ताज़ातरीन कृति है जैफ्री आर्चर की 'दि प्रिजन डायरी', इसमें अंग्रेजी के जाने-माने लेखक, जोकि नाइटहुड से विभूषित हैं, ने ब्रिटेन की इक्कीसवीं सदी की जेल का जो विवरण प्रस्तुत किया है उसे पढ़ कर विद्यार्थी जी की 1930 में गुलाम भारत में लखनऊ की जेल के अनुभवों पर यह टिप्पणी तर्कसंगत-सी लगती है.... ''यूरोप के ढंग के इन कैदखानों में पशुता का राज है। इनसे मनुष्यों को पशु और पशुओं को दैत्य बनाया जाता है। जिन अपराधों के लिए लोग इनमें रखे जाते हैं, उन्हीं अपराधों को अधिक होशियारी और निडरता से करने के लिए उन्हें तैयार किया जाता है। चोर जेल से निकल कर डाकू बनता है और डाकू हत्यारा। उन्नति तो होती है, परन्तु उलटी दिशा में.... जेलों में चोरी होती है, दगाबाज़ी होती है, दुराचार होता है और व्यभिचार होता है। उसे करते हैं कैदी और कराते हैं वे लोग जो उनके सिर पर अंकुश लिये सदा खड़े रहते हैं।''

विद्यार्थी जी ने कारागार में बन्द राजनीतिक कैदियों के सामान्य व्यवहार और प्रव त्तियों में आए बदलाव को रेखांकित किया है। प्रियजनों का विछोह, उनकी चिन्ता, बाहरी दुनिया से अत्यन्त सीमित संपर्क और करने के लिए कुछ भी अर्थपूर्ण कार्य नहीं होने से जो ठहराव और शून्य जीवन में आ जाता है। उसको भरने के लिए सुविधाप्राप्त कैदी पढ़ते हैं, पढ़ी हुई किताबों को भी दोबारा-तिबारा पढ़ डालते हैं, लिखने का उपक्रम होता है, खेल और व्यायाम करते हैं, गाते हैं, पूजा-पाठ करते हैं, बातें करते हैं, झगड़ते हैं और खाते रहने हैं। विद्यार्थी जी लिखते हैं (3 फरवरी 1922)..... ''जेल की सबसे बड़ी चर्चा है भोजन और अच्छा भोजन। इसी में साथियों का अधिक समय जाता है। एक नई बात का जन्म हुआ कि सात आदमी एक-एक दिन भोजन बनावें। पहले दिन टण्डन जी ने भोजन बनाया, नाम को भी घी नहीं था। इस पर राधाकृष्णन जी की आकृति बिगड़ गई। आज मेरी बारी थी। मैंने आज जीवन में पहली बार सात आदमियों का भोजन बनाया। नौकरों (साधारण कैदियों) के कारण दिक्कत कुछ भी न हुई। राधाकृष्ण को। accommodate करने के लिए घी का सम्मिश्रण खूब हुआ....।''

गणेश जी को लखनऊ की सेण्ट्रल जेल से जिला जेल भेजा गया तो वहाँ उन्हें वी.आई.पी. कैदियों के साथ रखा गया, जोकि लगभग 25-26 थे। उनमें पं. मोतीलाल नेहरू, पं. जवाहर लाल नेहरू, बाबू पुरुषोत्तम दास टण्डन, मौलाना कमालुद्दीन जाफ़री आदि गणमान्य लोग थे। उनकी बैरक का हाल सुनिये, ''यहाँ आराम का पूरा सामान था। अपने ही कपड़े थे, पढ़ने के लिए बहुत सी किताबें भी थीं और लिखने के लिए कलम-दवात और काग़ज़ की कोई कमी नहीं थी। भोजन का सामान इतना था कि खाए घटता न था, तरह-तरह की चीजें, घी और दूध भी खूब और फल भी

कम नहीं। जिन लोगों ने रोटियां और मक्खन नहीं खाया था वो इसलिए कि उनकी इफ़रात थी। उनका खाना, उनका छुरी से काटना, उन्हें सेंकना और मक्खन लगाना सीखने लगे थे। सबेरे, दोपहर और संध्या के भोजन की सूची और क्रम तैयार होते। दिन-रात मुंह चलाना भोजन से या बातों से। पीछे से ऐसा हुआ कि डेढ़ रुपया प्रति आदमी का हिसाब लगने लगा।''

जेल में भी उत्सव और पर्व मनाए जाते हैं। कम से कम विशेष श्रेणी के कैदी तो मना ही लेते हैं। 13 मार्च 1922 को लिखते हैं, ''आज होली मनाई गई। चार बजे सबेरे नीम की पत्तियों की होली जलाई गई और दोपहर को रंग खेला गया, जिसमें सब मुसलमान मित्र अच्छी तरह शामिल हुए। केवल मोतीलाल जी ने न केवल शामिल होने से इनकार किया, किन्तु सुपरिन्टेंडेन्ट से, जो उस समय वहां उपस्थित थे, अपनी रक्षा के लिए मदद मांगी, "I appeal to the police.... the Jail authorities..." सुपरिन्टेंडेन्ट के चले जाने पर जब हम लोगों ने कहा कि आपकी आज्ञा काफी होती, तब आपने कहा कि यह सब Foolhardiness और Row-dyism है। यहाँ Non-Cooperation नहीं। मैं हज़ार बार कहता हूँ कि यदि तुम कुछ भी करो तो मैं जेल वालों से मदद मागूंगा। हम लोग केवल गुलाल का टीका भर लगाना चाहते थे, परन्तु Not an atom उनका स्वर था।''

जेल में जब वजन लिया गया तो विद्यार्थी जी 51 सेर के निकले। वह क्षीणकाय व्यक्ति थे। डायरी के अनुसार वे अग्निमांद्य से पीड़ित थे। होम्योपैथिक इलाज पर अधिक आस्था थी, मगर उनके साइड इफेक्ट्स जैसे नक्सवोमिका से गर्मी आदि का जिक्र उन्होंने किया है। जेल में ही उन्होंने डॉ. जवाहर लाल रोहतगी से अपनी दाढ़ उखड़वाई। उनको अपनी पत्नी प्रकाश जी की चिन्ता बराबर बनी रहती थी। बीच-बीच में उनके बीमार पड़ने की ख़बरें आतीं तो वह अवसादग्रस्त हो जाते। 23 अप्रैल 1922 को डायरी में उन्होंने दर्ज किया– ''प्रकाश बीमार हैं और उनका जी और खराब हो गया है। भाई लिखते हैं, बेहोशी हो आती है। डॉ० जवाहर लाल को हिस्टीरिया का सन्देह है। इस चिन्ता से हृदय खिन्न रहा। परमात्मा कृपा करें.... दया करे। भविष्य का कुछ पता नहीं, क्या हो। अपना शरीर ऐसा और प्रकाश का यह हाल.... सिर पर बोझ इतना।''

उनके जेल जाने से उनके पिता जी अत्यन्त व्यथित थे। 12 फरवरी 1922 को घर का हाल उन्होंने कुछ यों लिखा है, ''प्रकाश का हाल तो प्रगट है ही, बिटोला भी दुबली थी। बाबू जी पहले के इतने घबराए हुए नहीं हैं। परन्तु गांधी जी को खूब गालियां देते हैं।'' फिर 2 अप्रैल 22 को मुलाकाती प्रकाश जी उन्हें बताती हैं, ''बाबू जी का हाल बिगड़ता जा रहा है। पागलपन बढ़ रहा है। पागलपन का मतलब दिमाग़ की दशा से है। प्रकाश के पीछे पड़ गए कि लिख दो, जमानत देकर गणेश चला आवे, नहीं तो विष खाकर मर जाऊँगी। दूसरे पत्र के पहुंचने पर जब पूछा कि क्या जवाब आया, तब प्रकाश ने उत्तर में कहा कि लिखा है कोई हर्ज़ नहीं, विष खा लोगी तो आकर दूसरा विवाह कर लेंगे। इस बात पर मुझे बड़ी हंसी आई।''

विद्यार्थी जी में गांधी जी जैसी साफगोई थी। उन्होंने अनुभव किया कि जेल में एकान्त की विवश मनोस्थिति में सेक्स की ग्रन्थियां भी खुलती-बन्द होती रहती हैं। 6 फरवरी 22 को उनकी डायरी में एकदम गांधीवादी शैली में स्वीकारोक्ति है, ''नींद ठीक-ठीक नहीं पड़ती और बहुधा स्वप्न दोष का अन्देशा रहता है। आज होते-होते बचा। यह शारीरिक कमजोरी के सिवा और कुछ नहीं।''

इससे पहले 5 फरवरी को उन्होंने लिखा था, ''मैंने सेण्ट्रल जेल में सुना था कि कैदी वर्षों जेल में होने के कारण निर्लज्ज और पाशविक हो जाते हैं। यह भी सुना था कि लड़कों के पीछे कैदियों में छुरियां तक चल गईं और आंखों के सामने कुकर्म हुए। यहां आजकल Women of India सचित्र, प्रभा का फरवरी अंक और अनेक भद्दे-रसीले चित्रों की पुस्तक साहित्यिक रस कुसुमाकर मौजूद हैं। उसके चित्र पढ़े-लिखे लोग घंटों बड़े शौक से देखते हैं और निर्लज्ज भाव और वाक्यों को प्रकट करने में संकोच नहीं करते। सेण्ट्रल जेल के पुराने कैदियों और नये बाबू कैदियों में अन्तर कुछ थोड़ा ही सा सभ्यता का रह जाता है।''

एक लेख में उन्होंने लिखा है, ''कम उम्र के लड़के कैदी दुराचारियों को सौंप दिए जाते हैं और सौंपते हैं जेल वाले। इस काम में रिश्वतें चलती हैं और फिर आपस में छुरियां तक चल जाती हैं, इन दारुण जीवन स्थितियों में विद्यार्थी जी ईश्वर में आस्था का सहारा लेते हैं। डायरी पढ़ते हुए उनकी गहन आस्तिक व त्ति से सामना होता रहता है। जब कभी दुःख का भार बढ़ता है, वे प्रभु की शरण लेते हैं, ''प्रकाश का पत्र मिला। हरि (पुत्र) अच्छा है। परमात्मा के चरणों में अत्यन्त विनय से बारंबार प्रणाम। बहुधा अपनी कमजोरियों और पापों पर द ष्टि डालते हुए यह मालूम पड़ता है कि मुझे जो कुछ भी प्राप्त है, वह बहुत है और मैं इसके योग्य भी नहीं। इसीलिए प्रकृति के जिस अंचल से जो कुछ मिले उसके लिए सिर झुकाना और जो कुछ छिन जाय उसके लिए शिकायत की बात मुंह से न निकालना अपना धर्म समझता हूँ.... ईश्वर सच्चे आदमी की श्रेणी में होने के लिए बल प्रदान कर!''

जिला जेल में सजा काटते हुए उन्होंने विक्टर ह्यूगो के उपन्यास 'नाइण्टी थ्री' का अनुवाद किया, जो बाद में, 'बलिदान' नाम से प्रकाशित हुआ। इसी तरह 1930 में अपनी पांचवीं जेल यात्रा के दौरान हरदोई जेल में उन्होंने विक्टर ह्यूगो के 'ला मिजरेबल' का अनुवाद किया और 'आहूति' शीर्षक दिया। जेल में जो भी साहित्य उपलब्ध हुआ उसे पढ़ते रहे। अख़बार नियमित रूप से नहीं मिल पाते थे, फिर भी बाहरी दुनिया की मोटी-मोटी ख़बरें पहुंच ही जाती थीं। गांधी जी से सम्बन्धित समाचार तो बिजली की तरह कौंध जाते थे पूरे देश में, जेल की दीवारें

भला कैसे रोक पातीं उन्हें... ''(14 फरवरी 1922) गांधी जी के सत्याग्रह स्थगित कर देने से बड़ा तहलका मच गया है। बाज-बाज साहब तो उन पर बेतरह बिगड़ उठे हैं। मौलाना शौकत अली और मीर अब्बास बेतरह हाथ-पैर फेंक रहे हैं। मोती लाल जी बेतरह बिगड़े हुए। वैसे निराशा तो सब पर छाई है।..... (15 फरवरी, मोती लाल जी ने कल यह भी कहा था, अन्त में गांधी बनिया ही तो ठहरे!) (22 फरवरी) केवल बेनीप्रसाद सिंह जो कुछ हुआ उसे उचित समझते हैं। श्यामलाल नेहरू और लखनऊ का वह लौंडा मीर अब्बास यह कहते थे कि हज़ारों आदमियों को तो जेल भेज दिया, अब अपनी बारी आई तो कन्ना काट गए।''

सरफ़रोशी की तमन्ना, गांधी जी का जादू, अलख जगाने का इरादा और कुर्बानी के जज़्बे के बावजूद हर बन्दी के कान रिहाई के किसी अप्रत्याशित समाचार की ओर लगे रहते। चाहे गांधी जी द्वारा सत्याग्रह वापिस लेने का निर्णय हो या प्रान्तीय कौसिल में सर लुडविक पोर्टन के भाषण में बिखरे मोती। समयपूर्व रिहाई के शोशे छोड़े जाने लगते, कयास लगाने का दौर शुरू हो जाता, ''इसीलिए हममें से बहुत से समझते कि अब छूटे तब और छूटे।'' गणेश जी को यह सब देख कर निराशा होने लगती, मगर वहां कुछ फौलादी इरादों वाले ऊँचे लोग भी थे, जिनके बारे में 'प्रताप' में अपने लेख में उन्होंने लिखा, ''मेरे साथियों में से दो सज्जन इस प्रकार की व्यर्थ लालसा से सदैव ऊपर रहा करते थे। इनमें से एक तो श्रीयुत पुरुषोत्तम दास टण्डन और दूसरे डॉ० मुरारी लाल। जेल भर में मुझे टण्डन जी से अधिक साधु प्रकृति का आदमी नहीं मिला। इनके मन पर इन आने-जाने वाली लहरों का कोई असर नहीं पड़ता था। वे सदा अटल रहते।... उनकी ज़रूरतें बिलकुल कम थीं और उनका हृदय साधारण से साधारण, नीचे से नीचे आदमी के साथ चलने को सदा तत्पर रहता।.... उनमें जितनी शिष्टता और भद्रता है, उनमें जितनी प्रखरता है, उतनी ही उदारता और नम्रता है... और मैं उन्हें इस प्रान्त के सार्वजनिक आदमियों में सबसे अधिक ऊँचा मानता हूं।.... डॉ० मुरारी लाल बड़े जबर्दस्त अध्यव्यवसायी थे। दिन-रात व्यवसाय और काम में व्यस्त। परन्तु बाहर वे जितने चलायमान रहते थे, जेल में उतने ही प्रफुल्लित और शान्त हो गए थे। कठिनाइयों और असुविधाओं से तो वे पहले भी कभी नहीं घबराते थे, परन्तु जेल जीवन के कांटों को भी उन्होंने फूल की तरह सहा।''

साधारण कैदियों को ही नहीं, विशिष्ट राजनीतिकों को भी रिहाई की संभावना प्रफुल्लित कर जाती थी। इसी दशा के तार कहीं धार्मिकता से भी जुड़े थे।

''.....हममें धार्मिकता भी बहुत बढ़ गई थी। गीता के पारायण तो जेल में इतने हुए कि शायद ही इतने बड़े स्थान में और कहीं हुए हों। रामायण भी खूब पढ़ी गई। एक महाशय तो कभी-कभी रात को रामायण इतनी जोर से पढ़ा करते कि दूर होने पर भी हम लोग उनके शब्दों को साफ-साफ सुनते। कुरानख्वानी भी खूब होती। हमारे मुसलमान दोस्त पांचों वक़्त नमाज पढ़ते। हमारे आर्यसमाजी भाइयों ने हवन कुण्ड बना लिया था और संध्या को उसका इस्तेमाल होता।

विद्यार्थी जी की डायरी और बाद में जेल जीवन पर लिखे गए शब्दचित्रों में सीखचों के पीछे रहने वाले अनेक छोटे-बड़े चरित्रों पर जो टिप्पणियां हैं उनसे उनकी सूक्ष्म निरीक्षण की क्षमता और गहरी संवेदना का पता चलता है। उन्होंने सब कुछ अपने अप्रतिम सरोकारों की कसौटी पर कस कर कहा है। सहज, साधारण भाषा में लेखन-शिल्प के दर्शन भले ही न होते हों, लेकिन अद्‌भुत संप्रेषणीयता है। यह एक राष्ट्रीय और ऐतिहासिक महत्व का दस्तावेज़ है और हमारी कीमती धरोहर।

374ए तिवारीपुर, जाजमऊ,
कानपुर, 208010

कहानी

नेपथ्य का नरक

अपूर्व जोशी

'नाम?'

'देवेश पाण्डे।'

'बाप का नाम'?... बहरा है क्या? 'नाम बोल बाप का!'

'शंभु दत्त पाण्डे!'

'कपड़े उतार और फटाफट तलाशी दे। बहुत लंबी लाइन है आज तो।' डयूटी हवलदार ने एक धक्का दे उसे आगे को ठेला।

'चल, चल जल्दी कर ससुराल में नहीं जेल में आया है तू अगले हवलदार ने फटाफट तलाशी ली। पर्स, घड़ी को जमा किया एक रजिस्टर में दस्तख़त फिर एक जोरदार धक्का।

अब वह खड़ा है एक बड़े-ऊंचे, बहुत ऊंचे लोहे के गेट के सामने। उससे आगे हैं छह और अन्डर ट्रायल मुज़रिम। उसे अभी तक यक़ीं नहीं आ रहा कि वह जेल के भीतर है। वह भी एक कैदी के तौर पर।

रिटायर्ड जिला जज का एकमात्र पुत्र, देहरादून के सबसे प्रतिष्ठित पब्लिक स्कूल का मेधावी छात्र, जर्मनी की विश्वविख्यात यूनिवर्सिटी ऑफ हेडिल्बर्ग से एम.बी.ए. देवेश कुमार पाण्डे आज एक आम अपराधी के समान, हवलदारों की दुत्कार खाता हुआ, अब जिला जेल की चाहरदिवारी के भीतर और अब एक कोठरी में ठूसा जाता। कोठरी में उसके समेत 40 लोग बंद हैं। क्षमता है हद से हद बीस की। यानी एक-दूसरे पर लदे पड़े हैं। कोई चक्कूबाज है तो कोई पाकेटमार, किसी ने बलात्कार कर अपनी मर्दानगी दिखाई है तो कोई दहेज के लिए अपनी पत्नी को जलाने का पदक पाया है। ऐसों के बीच भला देवेश पाण्डे क्या कर रहा है? यह वह स्वयं ही नहीं बल्कि उन्तालिस जोड़ी अन्य आँखें भी पूछ रही हैं। वह सिटपिटा कर एक कोने में खुद को समेटने की कोशिश करता है।

हवलदार की कड़क आवाज़– 'देवेश पाण्डे कौन है? बाहर निकल कर आए।' वह आगे निकल कर आता है। कोठारी की सांकल से लटके मोटे ताले को खोल हवलदार का इशारा कि बाहर निकले। तो क्या उसको रिहा किया जा रहा है? कैसे संभव है कि मात्र तीन घंटे के भीतर उसकी रिहाई का प्रबंध हो जाए?

परिचय –

अपूर्व जोशी

जन्म : 24/11/1969 को उत्तराखण्ड के छोटे से कस्बेनुमा शहर रानीखेत में हुआ था। प्रारंभिक शिक्षा रानीखेत सिस्टम मैनेजमेंट में डिप्लोमा। पिछले नौ वर्षों से साप्ताहिक 'दि संडे पोस्ट' का संपादन। साहित्य पत्रिका 'पाखी' का संपादन। 'हंस', 'वागर्थ', 'पाखी' और 'पुनर्नवा' में कहानियाँ प्रकाशित।

संपर्क : बी-107, सेक्टर-63, नोएडा

Email : editor@thesundaypost.in

धक्का, इतना जोर का कि वह लगभग गिर ही पड़ता। पलटता है, बहुत गुस्से से। हवलदार के पीले दांत चमकते हैं, 'क्या हाथ उठाएगा साले!'

तीन बैरक पार करके एक एकांत कोठरी। अंदर पूरी तरह अंधेरा है। शायद कोई और नहीं है। दस गुणा बारह फीट की कोठरी का ताला खोलने का प्रयास हवलदार करता है। कई झटके देने के बाद भी ताला नहीं खुल रहा। लगता है बहुत दिनों से खोला नहीं गया। अंततः हवलदार की जीत होती है और वह कोठरी के अंदर।

'कोने में लाइट का बटन है।' हवलदार कुछ विनम्र भाव से कह चला जाता है।

'रोशनी चाहिए किसे', देवेश की बड़बड़ाहट सुनने वाला वहां कोई नहीं। बटन दबाने के साथ जब आँखें एडस्ट होती हैं तो यह भ्रम टूट जाता है। अंदर एक कोने में कोई लेटा है। न तो देवेश के आगमन का उस पर असर पड़ा न ही लाइट जलाने पर वह पलटा। 'चलो साथी तो कोई है। भले ही लुटेरा-हत्यारा ही क्यों न हो। और एकांत भी है।'

पिछली घटनाएं फ्लैश बैक की भांति दौड़ पड़ती है। कड़कड़ाती सर्दी में योअर ऑनर जस्टिस सुखदेव पाण्डे अपनी धर्मपत्नी के साथ युनिवर्सिटी ऑफ हेडिल्बर्ग के गेस्ट हाउस में मौजूद हैं। उनके चेहरे पर ढेर सारा गर्व का भाव तो पत्नी का मुखड़ा बेटे के लिए वात्सल्य से भरपूर– 'अब क्या इरादा है? कमिंग बैक विद् अस, आर गोइंग टू स्टे मोर

हियर?' जज साहब ने ताज़ा-ताज़ा एमबीए डिग्री पाए पुत्र से पूछा।

'यहां रुक कर क्या करेगा? हमारे साथ ही वापस लौट ले। तेरे सिवा हमारा और कौन है? 'मां ने मानो निर्णय सुनाया हो।

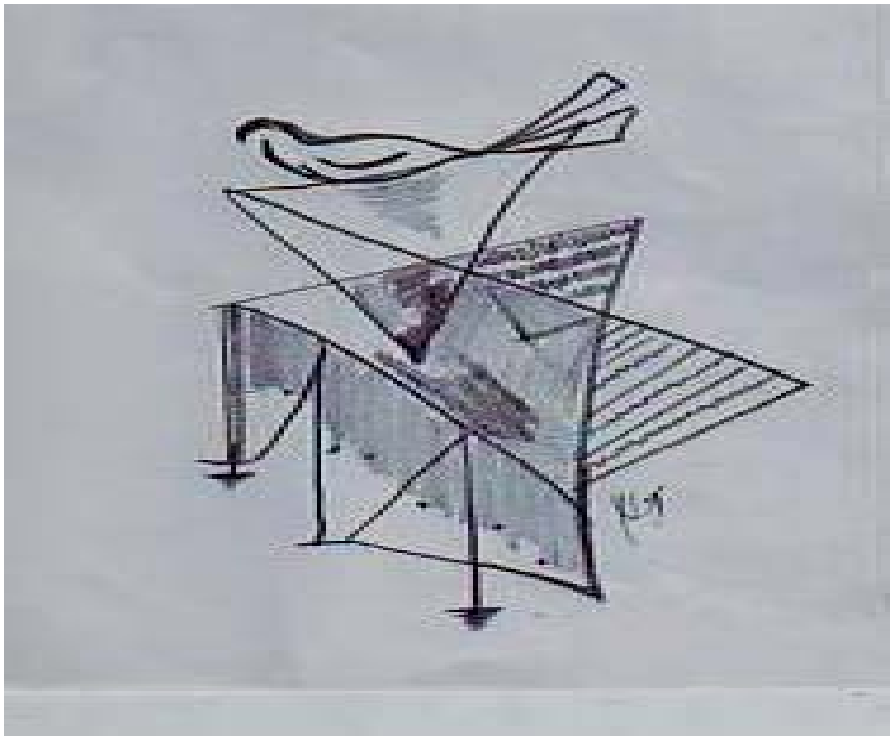

'कैसी बात करती हो तुम भी। वहां क्या स्कोप है जो यहां जर्मनी में है। मैं समझता हूँ तुम्हें अभी कुछ समय यहीं रह कर किसी बड़ी कंपनी में नौकरी ले लेनी चाहिए। फिर मौका मिलते ही यूएसए खिसक लेना।' यह जज साहब थे।

'आप उसे उल्टी पट्टी पढ़ा रहे हैं। बचपन से हास्टल में डाल दिया। पिछले तीन साल से यहां है, हिटलर के देश में। अब अमेरिका जाने की सलाह दे रहे हो। जाने तुम्हारी बुद्धि को क्या हो गया है।' रुआसी मां का स्वर।

'तुम नहीं कुछ जानती समझती। यहां के एक्सपिरियंस के बाद अमेरिका में ज़्यादा पैकेज वाली बड़ी नौकरी मिलेगी। **आई वांट हिम टू बी ए टॉप मैन लाइक विक्रम पण्डित।** लोग कहेंगे जज साहब का बेटा विदेश में देश का नाम रोशन कर रहा है।'

मां-बाप के वाक युद्ध से बेखबर क्या सोच रहा है देवेश पाण्डे?

'पापा कहते हैं बड़ा नाम करेगा, बेटा हमारा ऐसा काम करेगा, लेकिन कोई न जाने है मेरी मंज़िल है कहां...।' बेटे के चेहरे पर उभरी मुस्कुराहट पिता को आश्वस्त करने लगती है।

'अभी मैं इंडिया वापस आकर रिसर्च करना चाहता हूँ। यहाँ मेरे एक प्रोफेसर हैं जिन्हें लगता है कि एम.बी. ए के बाद बिजनेस या नौकरी करने के बजाय मुझे उनके अंडर में रिसर्च करनी चाहिए। मैं भी उनसे सहमत हूँ।'

'नॉट ए बैड आइडिया। सब्जेक्ट क्या चुना है?' जज साहब।

'Causes behind the rise of Naxalism & Maoism in India' यानी नक्सलवाद और माओवाद का भारत में विस्तार के कारण।'

माँ-बाप एक-दूसरे के चेहरे की तरफ देख रहे हैं और देवेश मज़े से सैण्डविच खाने में जुट गया।

'मैं समझता हूं यह तुम्हारे रिसर्च का सब्जेक्ट नहीं होना चाहिए। यू शुड वर्क आन समथिंग रिलेटिड विद् ग्रोइंग बिजनेस आपरच्यूनिटी इन इंडिया।'

'लेकिन मैं नक्सल प्रभावित क्षेत्रों में जाकर समझना चाहता हूँ आख़िर वहाँ ऐसा क्या हो चला है कि आदमी बंदूक उठाने को विवश है।'

'नानसेंस, तुम्हारा दिमाग़ फिर गया है। इन सब बेकार की बातों के लिए मैंने तुम्हें जर्मनी पढ़ने नहीं भेजा था।'

'आपने क्यों भेजा यह मैं नहीं जानता और न जानना चाहता हूँ। मैं डिसाइट कर चुका हूं। दिल्ली पहुंच पहले दन्तेवाड़ा जाकर कुछेक दिन रहूंगा। मुरिया, मरिया, धुरवा, हल्सा गौड़ जनजातियों के बीच रह उनकी समस्याओं का अध्ययन करूंगा। प्रयत्न करूंगा कि उनकी आवाज़ को सही तरीके से उठा सकूं।' कहते-कहते देवेश का चेहरा सुर्ख।

जज साहब मय पत्नी एयरपोर्ट के भीतर हैं। कांच की दीवार के दूसरी तरफ बेटा हाथ हिला उन्हें विदाई दे रहा है। मां की आँखों में आंसू भरे हैं। पिता मुंह फेर अपनी नाराजगी स्पष्ट करते हैं। देवेश बाद में लौटेगा। पहले घर न जाकर सीधे दन्तेवाड़ा जाएगा। कुछेक दिन वहां रह कर आगे कहां जाना है? यह तय करेगा। बीच में कभी-कभी घर आया करेगा। पिता-पुत्र की बातचीत युनिवर्सिटी गेस्ट हाउस से बंद होती एयरपोर्ट तक पहुंच चुकी है। दिल्ली से देहरादून शताब्दी की पूरी यात्रा मां-बाप ने बिना ज़्यादा बातचीत किए काटी। दोनों के

दिलोदिमाग में देवेश को लेकर विचारों का अंधड़ मचा रहा।

दन्तेवाड़ा यानी माओवादियों की गतिविधियों का गढ़। देवेश जमर्नी पहुंचने तक ऐसे किसी भी नाम से सर्वथा अपरिचित। जज पिता के चलते पूरा बचपन दून, तो जवानी की शुरूआत जर्मन विश्वविद्यालय में होना उसका प्रारब्ध है। शंभु दत्त पाण्डे उत्तराखण्ड के उच्च कुलीन ब्राह्मण परिवार से आते हैं। उनका खुद का बचपन घनघोर गरीबी में बीता। घर से कई किलोमीटर दूर सरकारी स्कूल रोज़ आने-जाने के साथ-साथ जंगल से ईधन लाना, जानवरों को घास चराने ले जाना और गधेरे से रोज कई बाल्टी पानी सारने की मशक्कत ने उनके जीवन में पैसे के महत्व को कुछ ज़्यादा ही वजनी बना डाला। यूं पहाड़ में उनकी छवि एक ईमानदार जज की है लेकिन जिस जिले में भी वह तैनात रहे वहां उनके बारे में लोगों की राय जुदा है। जज साहब ने अपने बचपन का साया एकलौते बेटे पर कतई नहीं पड़ने दिया। यही कारण है जब प्रो. कैब्स्यूल ने पहले ही दिन उससे दन्तेवाड़ा की बाबत सवाल किया तो वह चकित रह गया।

स्लवा जडूम? माओवादी? लाल गलियारा? बीस रुपया रोज़ पर गुजर बसर करने वाला हिन्दुस्तान? बेचारे का दिमाग भन्ना कर रह गया। डॉ. कैब्स्यूल उसके शिक्षक होने के साथ-साथ जिस हास्टल में उसे कमरा दिया गया वहां के वार्डन भी थे। उनकी भारत में गहरी दिलचस्पी थी। देवेश ने कुछ ही समय में जान लिया कि अपने देश के बारे में उसकी जानकारी बिल्कुल सतही है। दूसरी तरफ डॉ. वहां की जमीनी हक़ीक़त से जुड़े हैं। भारत के प्रति यही प्रेम दोनों की प्रगाढ़ता का कारण बना।

'देवेश यह सब तुम्हारी सरकार के ही आंकड़े बोलते हैं। तुम्हारे देश की तीन चौथाई आबादी जब इस हालात में गुजर कर रही है तो उसका लोकतंत्र पर कैसे विश्वास बना रहेगा?' देवेश ख़ामोश।

'दरअसल तुम्हारे देश में पूंजी का वर्चस्व हो गया है। कहने को तो वहां मज़बूत लोकतंत्र है लेकिन केवल कहने भर को। राजकाज बाज़ार के हिसाब से चल रहा है। और बाज़ार पूंजी के इशारे पर चलता है। यही कारण है कि तुम्हारे देश में अब गरीबी भी बेची जाने लगी है, जिसका मुनाफा उन चंद लोगों की तिजोरियों में भरता है जो लोकतंत्र पर कब्ज़ा जमा चुके हैं। माओवाद, नक्सलवाद समेत कई प्रकार के वाद इसी के चलते भारत में अपने जड़े जमाने में सफल हो रहे हैं।'

'तो क्या माओवाद के जरिए जनता की समस्याओं का हल निकल जाएगा?'

'मतलब?'

'क्या माओवादियों की नीतियां उन्हें सत्ता तक पहुंचने और उनकी सत्ता जनता को उसका वाजिब हक दिलाने में सक्षम होगी?'

'यह कह पाना कठिन है। विश्व भर का इतिहास पलट लो ऐसा उदाहरण नहीं मिलता। सत्ता शासक को अंततः निरकुंश और संवेदनशून्य बना देती है। रूसी क्रांति का हश्र सामने हैं। वामपंथ का विचार सबसे अधिक वहीं विस्तार पाया लेकिन जिस गति को अंततः प्राप्त हुआ उसे हम सभी ने देखा है।'

'तो फिर संघर्ष किस के लिए।'

'यह मनुष्य होने का सबसे बड़ा प्रमाण है। स्वाधीनता और स्वप्नदर्शिता।'

'क्या लोकतंत्र इन दोनों की गारंटी नहीं देता?'

'देता है। लोकतंत्र से ज़्यादा सशक्त कोई व्यवस्था नहीं।'

'तो फिर मेरे देश में ऐसा क्योंकर नहीं हो पाया?'

'राष्ट्रीयता का अभाव और भारी चारित्रिक विचलन, जिसने ना केवल राजनेता बल्कि आम आदमी को भी पूरी तरह अपनी जकड़ में ले लिया है।'

'इससे बाहर निकलने का मार्ग?'

'युवा पीढ़ी, विशेषकर तुम जैसे संवेदनशील नवयुवकों की पहल। अपने-अपने भविष्य की चिंता यदि छोड़ भारत की चिंता कर सको तो शायद तुम्हारे देश का और वहां के लोकतंत्र का कुछ भविष्य है अन्यथा जल्द ही भारत पुनः विघटन का शिकार होगा।'

प्रोफेसर कैब्स्यूल और देवेश का तीन सालों तक चला ऐसा ही वार्तालाप अंततः जस्टिस पाण्डे की नाराजगी और देवेश पाण्डे का यूएसए के बजाए दन्तेवाड़ा पहुंचने का कारण बना।

मैदनीपुर जिला एवं सत्र न्यायालय में आज अन्य दिनों की अपेक्षा ज़्यादा चहल-पहल है। टीवी चैनलों के कैमरों और प्रिंट मीडिया के संवाददाताओं की उपस्थिति ने माहौल को गरमा दिया है। नाटकीय तरीके से पुलिस की गिरफ़्त में आए माओवादी थिंकटैक के महत्वपूर्ण सदस्य देवेश पाण्डे की आज कोर्ट में पहली पेशी होनी है। स्पेशल एण्टी नक्सल फोर्स 'ग्रे हाऊंड' का दावा है कि पाण्डे विदेशी आर्थिक सहायता माओवादियों तक पहुंचाने का माध्यम है। उस पर कई अन्य गंभीर आरोप भी लगे हैं। कुछ अरसा पहले हुए एक आत्मघाती हमले में एक सौ चालीस पुलिस कर्मियों की मौत के पीछे देवेश का हाथ होने की बात भी 'ग्रे हाऊंड' के मुखिया ने कही

है।

एकांत कोठरी में एडस्ट होते देवेश को देर लगी। भले ही जेल में है लेकिन है तो यहां प्रायवेसी। एक साथी ज़रूर है जिसने पिछले तीन घंटे से करवट तक नहीं बदली। 'मैं यहां पर कैद आख़िर किस जुर्म को लेकर हूं? मेरा कसूर क्या है? क्या माओवादी एरिया कमाण्डर के खिलाफ़ जाना मेरा जुर्म है? या फिर जिले के अफसरों और टॉप माओवादियों के संबंधों का राज जान लेना? या जो शारिरिक और मानसिक शोषण महिला कैडरों का देखा, उसके खिलाफ़ आवाज़ उठाने की कोशिश की, कहीं उसी का नतीजा तो नहीं कि मुझे चारा बना सुरक्षा बलों के सामने फेंक दिया गया?'

जर्मनी छोड़ते समय डॉ. कैब्स्यूल ने उसे चेताया था कि माओवादी आंदोलन भारी अराजकता का शिकार हो चुका है।

'यह सही है कि पूंजीवादी व्यवस्था के शोषण से त्रस्त आदिवासी माओवादियों की तरफ आकर्षित हुए हैं लेकिन यहां से भी उन्हें अब निराशा हाथ लगने लगी है। तुम्हारे राष्ट्र को अस्थिर देखने की चाह रखने वाली अंतर्राष्ट्रीय ताकतों के डॉलर इन माओवादियों को पूरी तरह पथभ्रष्ट कर चुके हैं।'

'तो क्या यह मान लेना चाहिए कि पूरा आंदोलन ही धोखा है।'

'नहीं ऐसा नहीं है। सच्चे योद्धा पूरे सर्मपण के साथ शोषण और लूट के खिलाफ़ जनयुद्ध की तैयारी कर रहे हैं। उन्हें इसमें सफलता भी मिली है। लेकिन जैसे-जैसे इस जनयुद्ध का विस्तार हो रहा है, गलत प्रव ति के लोग हावी होने लगे हैं। एक तरफ अपना पूरा भविष्य दांव में लगा आमजन की सेवा का संकल्प लेने वाले डॉ. विनायक सेन हैं तो रूम्पा महतो, सबिता मुण्डा, गीता मुरमु, अंजु मुरमु जैसी असंख्य महिला कैडर हैं जिनका उनके ही साथी कमाण्डर जमकर दैहिक शोषण कर रहे हैं।'

लाल गलियारे में पिछले तीन सालों में भटक रहे देवेश पाण्डे को कभी-कभी डॉ. कैब्स्यूल से ईर्ष्या हो आती। आख़िर कैसे इतनी सटीक जानकारी उन्हें जर्मनी में बैठे मिल जाती है? क्यों वह अपने ही देश की बाबत इतना कम जानता था? उड़ीसा में पॉस्को, मित्तल, वेदान्ता समेत दर्जनों छोटे-बड़े उद्योग समूहों द्वारा की जा रही अंधाधुंध माइनिंग, आदिवासी जनता के पास दो जून की रोटी तक का संकट और उनका हथियारबंद दस्तों में शामिल होना। इस सबका विस्त त वर्णन वह नियमित तौर पर डॉ. को जर्मनी भेज रहा था। डॉ. ने ईमेल भेजी कि उसकी रिपोर्ट को काफ़ी सराहा जा रहा है।

'वट डज इट मीन? मैं तो केवल आपके लिए यह सब भेजता हूं? डॉ. का जवाब आया कि जर्मनी ही नहीं बल्कि पूरे यूरोप और यहां तक संयुक्त राष्ट्र संघ तक उसकी रिपोर्ट चर्चा में है।

'तुम्हारी रिसर्च के लिए भी यह जरूरी है।' डॉ. ने लिखा साथ ही चेताया भी। 'तुम्हारी सरकार चौकन्नी हो उठी है। जरा संभल कर रहना।' माओवादी नेताओं का देवेश पाण्डे के प्रति सम्मान प्रदर्शित करना शायद इसी कारण था। उनकी आवाज़ को अंतर्राष्ट्रीय मंचों तक पहुंचाने का काम जो आदमी करेगा उसका यथोचित सम्मान तो करना ही होगा।

उड़ीसा से वापस लौटते समय कुछ दिन बांका में रहने का मन किया। शायद यहीं से गड़बड़ शुरू हुई। माओवादियों, नक्सलवादियों के साथ पिछले दो सालों से चल रहा हनीमून यहीं आ खत्म हुआ। दक्षिण पूर्व बिहार का यह जिला झारखंड के लाल गलियारा क्षेत्र से सटा है। यहीं पर पहली बार महिला कॉडरों का शोषण देखने को मिला था। बीस साल की सबिता मुण्डा ने जब पहले-पहल यह आरोप पुलिस संरक्षण में हुई एक प्रेस काफ्रेंस में दागे तो देवेश को यक़ीन न हुआ। कामरेड साथियों ने भी इसे सिरे से नकारा।

'सब सरकारी साज़िश है। यह लड़की पुलिस की एजेण्ट थी ऐसा शक हमको पहले से ही था। समय रहते ऐक्शन नहीं लिया यह हमारी गलती है।' कामरेड जुआंग ने कहा तो सभी के सिर सहमति में हिले।

शायद इसके तीसरे दिन की घटना रही होगी। देवेश से मिलने एरिया कमाण्डर हेमा मुरमु आई थी। उसने जो कुछ बताया वह सबिता मुण्डा के आरोपों की पुष्टि करने वाला था। कैसे लड़कियों का शारीरिक शोषण किया जा रहा है, उनके गर्भ को ख़तरनाक देसी तरीकों का इस्तेमाल कर गिरा दिया जाता है इत्यादि सभी बातें जो हेमा मुरमु से सुनी थी देवेश ने डॉ. कैब्स्यूल को विस्तार से लिख भेजीं। साथ ही डॉ. विनायक सेन के बारे में भी एक छोटा सा लेख लिखा था कि कैसे उन्हें स्थानीय आदिवासी जनता भगवान का दर्ज़ा दे चुकी हैं। उनका अस्पताल इन शोषितों के लिए संजीवनी का काम कर रहा है।

हेमा मुरमु से मुलाकात के बाद देवेश के भीतर कुछ बदल सा गया था। अब वह जहां भी जाता चीजों को गहरे घुस समझने का प्रयास करने लगा था। उसे दिखने लगा था कि

कैसे सामंती विचारधारा का विरोध करने वाले और वर्ग संघर्ष की बात करने वाले स्वयं सामंती सोच के शिकार और वर्गीकरण के पैरोकार बन चुके हैं। पश्चिम बंगाल के दक्षिण मेदनीपुर जिले तक पहुंचते-पहुंचते तो हनीमून लगभग समाप्त हो गया। एक तो बांका की हेमा मुरमु से हुई बातचीत का विवरण डॉ. कैब्स्यूल के जरिए अंतर्राष्ट्रीय मंचों तक जा पहुंचा था जिससे कामरेडों की भाव-भंगिमा बदल गई थी। दूसरी तरफ ज्यादा अंदर घुस चीजों को समझने का प्रयास रंग लाने लगा था। देवेश को समझ आया था कि कैसे विकास के नाम पर करोड़ों की सहायता राशि स्थानीय नेता, सरकारी अफ़सर, ठेकेदार और माओवादियों के बीच बंट जाती है। कैसे ईमानदार अफ़सरों को ऐसे जिलों में टिकने नहीं दिया जाता और भ्रष्ट अफ़सर-ठेकेदारों को बगैर किसी रोकटोक काम करने दिया जाता है।

'देवेश तुम जितनी जल्द हो सके यहां से निकल लो।' डीएम वैंकटेश ने उसे सुबह चाय पर यह बात कही तो वह चौंका था।

'क्यों तुम्हारी सरकार को मुझसे कुछ खतरा है क्या?' मुस्कुराते हुए उसने पूछा तो भी वैंकटेश का चेहरा गंभीर ही रहा।

'देखो तुम पर ख़तरा मंडरा रहा है। यू आर नाऊ सराउण्डेड बाई ऑल दि थ्री साइड्स। लोकल पालिटिशियन, पुलिस, काण्ट्रैक्टर एंड माववािस्ट, ऑल हैव ज्वाइंट हैंडस अगेस्ट यू।'

'मगर क्यों? वट हैव आई डन?'

'प्लीज देवेश, बात को समझो। तुम्हारी रिपोर्ट्स को अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर सराहा गया। पहले तुम माओवादियों नक्सलवादियों के संघर्ष और पूंजीवादी शक्तियों द्वारा किए जा रहे शोषण को सामने ला रहे थे। तब तक यह माओवादी तुम्हें जमकर सराहते थे। इनको बाहर से ज्यादा पैसा मिलने लगा था। जब धीरे-धीरे तुम्हें पूरा खेल समझ आने लगा और तुमने लड़कियों के शोषण की बात उठाई, सरकार ग्रांट के लूट का मुद्दा उठाया तो इनके हितों को चोट पहुंचने लगी। अब तुम इनकी आंखों में खटकने लगे हो। देखों मैं कलक्टर होने के नाते कई ऐसी खुफिया जानकारी रखता हूँ जिसके बल पर मुझे तुम्हारी चिंता है। दे आल आर वन। यह सभी एक हैं। इसलिए मिलकर तुम्हें निपटाने की योजना बना रहे हैं।'

'थैंक्स वैंकटेश। मैं अपनी थीसिंस के आखरी चरण में हूं। अब मुश्किल से दो महीने का काम बाकी है। मैं संभल कर रहूंगा।' इतना कह देवेश ने विदा ली थी। दो महीने की छोड़ों दो दिन का वक़्त नहीं मिला। वैंकटेश के घर से लौट सबसे पहले डॉ. कैब्स्यूल को पूरा घटनाक्रम ईमेल पर पोस्ट कर देवेश रात बारह बजे के करीब सोने जा ही रहा था कि पुलिसिया बूटों की आवाज़ से उसका इलाका गूंज उठा। कस्बे के एक निम्न मध्यवर्गीय मोहल्ले में रह रहे देवेश पाण्डे को राष्ट्र विरोधी गतिविधियों में लिप्त रहने के आरोप में गिरफ़्तार कर लिया गया। चूंकि मामला राष्ट्रद्रोह का था इसलिए न कोई वारण्ट न कोई अदालत, सीधे जेल।

'मुजरिम पर संगीन आरोप है माई लार्ड। पिछले तीन सालों के दौरान यह हर इलाके में जा चुका है, जहाँ राष्ट्र विरोधी ताकतें माओवाद-नक्सलवाद के नाम पर अपनी पकड़ बना चुकी हैं। हमारे पास इस बात के पुख्ता प्रमाण हैं कि जहां-जहां यह व्यक्ति गया, वहां ऐसी राष्ट्र विरोधी ताकतों को विदेशी धन की मदद में बढ़ोत्तरी हुई है। चूंकि मामला देश की रक्षा से जुड़ा है इसलिए मैं सभी तथ्यों को आपके सामने सील्ड लिफाफे में रख रहा हूँ। डिफेंस लायर चाहेंगे तो वह आपके चैंबर में इन सबूतों को पढ़ सकते हैं।'

कोर्टरूम का ड्रॉमा लगभग आधे घंटे तक चला। देवेश देख चुका था कि उसके माता-पिता समेत अन्य मित्रगण मौजूद थे। उसे आश्चर्य हुआ तो डॉ. कैब्स्यूल की उपस्थिति से।

'मुजरिम को फ़िलहाल पांच दिन की न्यायिक हिरासत में भेजा जाता है। प्रोसिक्यूशन अगले सोमवार पुख़्ता सबूतों तथा डिफेंस पूरी तैयारी के साथ आए। तभी, बेल अथवा रिमाण्ड दिए जाने पर विचार होगा।'

रिटायर्ड जज सुखदेव पाण्डे से बेहतर भला कानून को कौन जानता है। उन्हें सिस्टम की हर खूबी पता है। शायद इसीलिए उन्हें देवेश के साथ मुलाकात का इंतजाम करने में मुश्किल नहीं हुई। अदालत के भीतर बनी जेल में दोनों बाप-बेटे आमने-सामने हुए।

जस्टिस सुखदेव पाण्डे और देवेश।

जज साहब का प्रस्ताव, 'यदि तुम चाहो तो तुम्हारी अगले सोमवार न केवल जमानत करा दूंगा बल्कि सारे आरोपों को भी सरकार से ही वापस करा दिया जाएगा। ज़्यादा से ज़्यादा छह महीने में तुम बिल्कुल आज़ाद हो जाओगे।'

'बदले में मुझे क्या करना होगा।' सपाट चेहरा लिए देवेश पाण्डे।

'कुछ नहीं केवल डॉ. कैब्स्यूल को भेजी गई रिपोर्ट्स को फ़र्जी कहना होगा और साथ ही यूएसए जाने के लिए रजामंदी देनी होगी।'

'मुझे सोचने का मौका दें। साथ ही मैं डॉ. कैब्स्यूल से अभी मिलना चाहता हूं। प्लीज अरेन्ज दिस मीटिंग।'

डॉ. कैब्स्यूल और देवेश–

'सर पिताजी चाहते हैं कि मैं आपको भेजी रिपोर्ट्स को फर्जी करार दे दूं। और उनकी इच्छानुसार यूएसए चले जाने के लिए तैयार हो जाऊं तो मेरी रिहाई संभव है।'

'तुमने क्या सोचा?'

'सर आप इसे मुझसे ज़्यादा बेहतर जानते हैं।'

'तो फिर मुझसे मिलने की उतावली क्यों?'

'क्योंकि आप को जानकारी देनी थी अपने रूम पार्टनर के बारे में।'

'रूम पार्टनर?'

'यस सर। मेरी कोठरी में एक और आदमी मेरे साथ बंद है। आप जानना चाहते हैं कौन?'

'कौन?'

'सर पिछले दस सालों से जिसे फरार, लापता या फिर म त माना जा रहा है ऐसा एक सच्चा कामरेड।'

'यानी'

'सर कामरेड नीलबख़्श सिंह वह व्यक्ति है जिसने पंजाब में वामपंथी आंदोलन और बाद में नक्सलवाद की स्थापना की। यह वह व्यक्ति है जिसे पंजाब पुलिस, सिख आतंकवाद और वहां के राजनेता, समान रूप से घ णा करते थे क्योंकि इसने उन सबके गोरखधंधे की ख़िलाफत की थी। बाद में पं. बंगाल भाग आए कामरेड नीलबख़्श सिंह एकाएक लापता हो गए थे।'

'ओह माई गॉड। तो अब क्या चाहते हो।'

'सर मैं आपके माध्यम से उनके सच को सामने लाना चाहता हूं और चाहता हूं कि मेरी रिहाई कानून के दायरे में करने का प्रयास किया जाए। मैं चाहे अगले दस सालों तक रिहा न होऊँ लेकिन जस्टिस सुखदेव पाण्डे की शर्तों पर रिहा नहीं होना चाहता। मैं चाहता हूं मेरा यह संदेश आप जस्टिस पाण्डे तक पहुंचा दें और मेरी इस लड़ाई को सही मंचों तक आप पहुंचाने का माध्यम बनें। मैं माओवाद और नक्सलवाद के नाम पर चल रहे घिनौने खेल का सच भी सामने लाना चाहता हूं। मैं यह बताना चाहता हूँ कि कैसे पथभ्रष्ट माओवादी, राजनेता-ठेकेदार और नौकरशाह एक होकर लूट रहे हैं देश को, बेवकूफ बना रहे हैं भोली-भाली, लुटी-पिटी जनता को। क्या मेरी इस लड़ाई की आवाज़ बनेंगे आप। विल यू?'

'यस आई विल माई बॉय, आई विल।' अपनी भरी आंखों को पोंछते बाहर निकल आए थे डॉ. कैब्स्यूल।

● ● ●

लघुकथाएं

समता

डाक्टर ने उपयुक्त धन लेकर उसकी पत्नी की एक आंख निकाल कर उसके पति की आंख के कोटर में लगा दी।
अब दोनों देख सकते थे।
परन्तु.....
वह दोनों कानें थे।
अब दोनों एक-दूसरे को एक ही आंख से देख रहे थे।

तुम और मैं

तुम और मैं की तकरार हो गई।
ब ज़ाहिर तो मैं जीत गया।
परन्तु तुम हार कर भी जीत गया था।

डॉ० ख़ान हफ़ीज़

कहानी

ख़सम

हरि भटनागर

पत्नी बेचैन है।

बेचैन की वजह है सब्ज़ीवाला जो तकरीबन तीन महीने से नहीं आ रहा है। लापता है, ग़ायब या कुछ हो-हवा गया है। पत्नी को यही लगता है कि उसके साथ कुछ घपला हो गया है; नहीं इतने दिन फिरने में नहीं लगते। घर में वह बैठ ही नहीं सकता, ऐसा आदमी है मेहनत– मशक्कतवाला, रोज़ कमा के खाने वाला।

सब्ज़ीवाला यही कोई पैंतालिस साल का होगा। छे फुटा, लम्बा, थोड़ा-सा आगे को झुका। सिर के बाल खिचड़ी और बेतरबीब फैले हुए, जिन्हें वह कभी हाथ नहीं लगता। नहाते वक़्त भी पानी नहीं पोंछता होगा। लटों की शक्ल में वे चेहरे पर लटकते रहते। मूँछें भी ऐसी ही बढ़ी हुई थीं। दाढ़ी पूरे चेहरे पर नहीं थी। बकरे जैसे ही थी ठोढ़ी पर। रह-रह वह उस पर हाथ फेरता रहता। बदन पर उसके बिना बटनों का मैला-सा कुर्ता होता जो छाती पर चौपट खुला रहता। नीचे ढीला-ढाला पायजामा। पाँयचे उसके ऐसे कटे-फटे होते लगता कैंची से कतर दिए गए हों। बड़े पट्टे की हवाई चप्पलें वह डाटे रहता। चप्पलें उंगलियों और एड़ियों के दबाव से घिसी होतीं। लगता उँगलियाँ और एड़ियों ने अपनी जगहें मुकम्मल कर ली हैं जहाँ से उन्हें हिलाया तक नहीं जा सकता।

जिस तरह वह बेतरतीब दिखता, उसका ठेला उतना ही तरतीब से जमा होता। हर सब्ज़ी क़रीने से रखी होती। और सब्ज़ियाँ भी वह ताज़ा ही रखता कि देखके ख़रीदने का मन हो जाए। चाहे फूलगोभी हो, बैगन, भिण्डी या पालक या मूली-शलजम या बथुआ– लगता परिंदे आ बैठे हों जिन्हें वह अपने प्यार-दुलार भरे अंदाज़ से पुकार-पुकार के कहता– क्या बथुआ है, पूरा फाख्ता! क्या शलजम है पूरा कबूतर !!! परिंदों को उठा लाया हूँ मालिक! देखो तो कैसे चहचहा रहे हैं !!! उसकी पुकार का अंदाज़ इतना नफ़ीस प्यारा था कि कॉलोनी में घुसते ही लोग घरों से निकल पड़ते। लम्बी डोरी का तराजू था जिसकी दाँड़ी स्टील की तरह चमकती। तराजू के दोनों पलड़े अल्यूमीनियम के थे और खूब साफ़। लगता रगड़ के माँजे गए हों। बटखरे भी काले और चमकते दीखते जैसे अभी-अभी ख़रीद के लाए गए हों।

सब्ज़ी तौलते वक़्त वह गहकियों से कहता– मालिक, एक तो सब्जी अव्वल दर्जे की मिलेगी, दूसरे कम तौल की नहीं होगी। कोई शिकायत हो तो इत्तला भर दें, पैसे पूरे वापिस। और आप सब्ज़ी कूड़े में डाल दें।

●

हरिभटनागर

जन्म : राठ हमीरपुर (उत्तर प्रदेश) में।
शिक्षा : सुल्तानपुर और लखनऊ विश्वविद्याल में।
प्रारम्भि जीवन सुल्तानपुर में गुजरा।
प्रभात और अमर उजाला में लम्बे समय तक पत्रकारिता।
संगति और बस्ती के लोग, नाम क्या रखा है, बिल्ली नहीं दीवार, सेबड़ी रोटियाँ..... प्रकाशित कथा संग्रह।
श्रीकांत वर्मा, दुष्यंत कुमार और पुश्किन सम्मान से सम्मानित।
पता : 197 सेक्टर बी, सर्वधर्म कालोनी, कोलापुर रोड, भोपाल–42
मो० : 9424418567

हम इस कॉलोनी में नए-नए आए थे। नुक्कड़ के हीरालाल के मकान में पहली मंज़िल पर रहते थे। आठ-नौ बजे सुबह पत्नी को ठेलेवाला दूर से आता दीख जाता। मानों वह उसका बेसब्री से इंतज़ार कर रही हों, इसलिए उसके नीचे आते ही धड़-धड़ लोहे की सीढ़ियाँ फलाँगती उस तक जा पहुँचतीं।

पत्नी को देखते ही वह कहता– मैडम, कौन-सा पंछी चाहिए?

पत्नी मुस्कुरातीं, कहती कुछ नहीं।

एक दिन उन्होंने कहा– आप सब्ज़ी वाले कम शायर ज़्यादा लगते हो !

इस पर वह शरमा गया, हल्का मुस्कुराया, दाढ़ी पर हाथ फेरा, बोला– मैं शायर-वायर कुछ नहीं। हाँ, अपने धंधे को शायरी की तरह लेता हूँ और इसी तरंग में पूरा दिन काट देता हूँ। अगर ये शायरी न हो तो मैं कब्रिस्तान में जा लगूँगा। यकायक वह झुककर एड़ी खुजलाने लगा और तिरछी नज़रों से देखता आगे बोला– हर इंसान को शायर होना चाहिए।

पत्नी ने कहा– बथुआ कैसे दिया?

वह बोला– फाख़्ता?

पत्नी ने मुस्कुराकर हा– नहीं बथुआ!

वह बोला– नहीं फाख़्ता। वह हँसा– एक दूँ, दो या तीन?

उसने तीन फाख़्ते थैली में डाले। पत्नी ने दस का नोट दिया। उसने लकड़ी के छोटे-से बक्से से एक का सिक्का निकाला और पत्नी की तरफ़ बढ़ाया।

– न-न-नहीं चाहिए– पत्नी ने गर्दन हिलाते हुए कहा– पूरे तो हो गए भाई जान!

– नहीं मैडम, अपन न एक पैसा ज़्यादा लें और न ज़ादा दें। जो वाजिब है वही लूँगा– कहकर उसने पैसा वापस कर दिया।

उसके इस साफ़-सुथरेपन की वजह थी कि कोई उससे मोल-भाव नहीं करता था। सब उससे आदर-लिहाज़ से बात करते और वह इससे कहीं ज्यादा आदर-लिहाज में रहता। अदब उसमें जैसे कूट-कूट के भरा गया हो।

उसके इस गुन के कारण पत्नी अक्सर उसकी प्रशंसा करती रहतीं। मुझे उसकी एक-एक बात बतातीं। मैं बोलता कुछ नहीं, मुस्कुराता रहता।

●

फरवरी का कोई दिन रहा होगा जब वह नीम के नीचे आ खड़ा हुआ। पत्नी सब्ज़ियों का मुआयना-सा कर रही थीं कि कौन-सी सब्जी ली जाए।

वह उदास-सा दीख रहा था। उसने आज नहीं पूछा कि कौन-सा परिंदा दूँ, मैडम?

पत्नी को उसकी उदासी टीस गई, अपने को रोक नहीं पाईं, पूछ बैठीं– आज आप पंछी नहीं बेच रहे हो? लगता है कुछ गड़बड़ हुई है आपके साथ ?

उसने गहरी साँस ली जैसे भारी तकलीफ़ में हो और उसी के दबाव में रह-रह सिर झटकता जाता था।

क्या बात है भाई जान? मुझे नहीं बताएँगे?

पत्नी के इस अपनापे पर उसकी आँखों से झर-झर आँसू बह पड़े। फड़कते होंठों से बोला– मैं.... कहीं और चला जाऊँगा। क्या करूँ!– लाचारगी के भाव में उसने कंधे ढीले छोड़ दिए।

–क्यों, क्या हुआ ऐसा?– पत्नी का सवाल था आहत-सा।

उसने रुमाल से नाक पोंछी, फिर गहरी साँसे भरने लगा।

पत्नी के दुबारा आग्रह पर वह बोला– धंधा करना मुश्किल हो रहा है मैडम! आप जानती हैं, घोड़ानक्कास में जहाँ रहता हूँ, वहीं पास की कॉलोनी का एक बदमाश है और वो अच्छे बड़े घर का है, जीना मुहाल किए है।

– अरे!– पत्नी गहरे अफ़सोस में डूब गई, फिर बोली– क्या कह रहा है वो?

– यही कि दस हजार रुपये, एक बोरी प्याज, दो बोरी आलू और एक बोरी लहसन घर पहुँचाओ, नहीं बो गत बनाऊँगा कि रोते नहीं बनेगा– वह क्षण भर को रुका, खाँसने लगा, फिर आसमान की ओर ताकता, दोनों हाथ ऊपर की तरफ़ उठाता बोला– अल्लाताला गवाह है जो मैं तनिक भी झूठ बोलूँ। किसी तरह रोटी चल रही है। गिनी बोटियाँ नपा शोरबा मेरे सीगे में आता है। न किसी के लेने में, देने में– किसी के आड़े गलती से भी नहीं आता। बावजूद इसके वो बदमाश धमकियाँ दे रहा है.... परसों बोला था कि पहुँचा दे सामान, मैंने कोई जवाब नहीं दिया तो कल सुबह झोपड़े में आ पहुँचा। कहने लगा– मैंने कुछ कहा था...मैंने उसका कोई जवाब नहीं दिया तो बोला, ढेरों पान की गंदी पीक दरवाज़े पर उगलता– ये तेरे दो छोकरे जो सो रहे हैं, अगर मेरे घर सामान नहीं पहुँचाया तो ये सोते रह जाएँगे! जान ले। मैंने कहा– आख़िर, आप ऐसा क्यों कह रहे हैं? मैं ग़रीब-गुरबा, कहाँ से इत्ता सामान और रुपये लाऊँ मालिक! कोई उठाईगीरा तो हूँ नहीं!!! तो वह बोला– हरामजादे, तुझसे जो कहा जा रहा है, कर, नहीं, जिबह काट डालूँगा सबको.. साला लाखों कमा रहा है, मुफत की झोपड़ी में रह रहा है, पानी लैट फ्री, सब कुछ फ्री. .. कहते-कहते वह पल भर को रुका, फिर बोला– सच कहूँ मैडम, यकायक मुझे गुस्सा आ गया, तराजू पटकते हुए मैंने तनकर छाती पर मुक्के मारते हुए कहा– तुम्हारा कोई धरम है या नहीं, इस पर उसने मेरी दाढ़ी पकड़ ली। ज़ोरों से हिलाता, बोला– यही धरम है मेरा। जो कहा जा रहा है कर, नहीं धरम को चाटता फिर.... वह धारदार आँसुओं के बीच रो पड़ा।

पत्नी का गला रुंध गया था। कुछ बोले कि वह आगे बोला– जिसने धमकियाँ दी थीं कल शाम को चुपके से मैं उसके दरवाज़े जा पहुँचा। बाप से बात की। सोचा कि बाप शायद मामला निपटवा दे, लेकिन बाप तो खुद लड़के से परेशान है। मेरी पीठ पर हाथ धरता बोला, मियाँ इत्ता कमीन लड़का भगवान किसी को न दे। घर में कोई कमी नहीं है लेकिन वह इत्ता गंदा ऐय्याश हत्यारा निकल गया है कि कुछ कह नहीं सकता। सब बरबाद कर डाल रहा है। मेरा जीना दूभर किए है, रोज़ दस-बीस हज़ार उसे चाहिए, रोज़ दारू मुर्गा। काम-दंद कुछ नहीं, बस जान पर तुला रहता है– मैं उसके सामने नहीं आता, भगवान की कृपा से उसके आसरैत

नहीं। नहीं तो क्या करता– कह नहीं सकता। बस अब यही है कि किसी तरह जान बचा रहा हूँ। आप जानते हो वह आए दिन मुझे माँ-बहन की गालियाँ देता है। मादर.... चूतिया चूतिया क्या नहीं कहता, पता नहीं किस संगत में, बदमाशों के साथ है, किसी की नई गाड़ी मार लाया है, उस पर चलता है, पचासों लोगों को सता रहा है। उससे पैसा मार, इससे पैसा मार, उसको धोखा, उसको अड़ी। देर रात आता है चीख-गुहार, हे भगवान...

पत्नी बोलीं– तुम पुलिस में ख़बर करो, ऐसा थोड़े है कि कोई कुछ भी करे... उसका राज है क्या?

गहरी साँस छोड़ता यकायक वह कहीं खो-सा गया फिर जैसे अपने को संभाल लिया हो, हल्का मुस्कुराया, हाथ जोड़ता बोला– मैडम, आपको जबरन दिक में डाल दिया मैंने। आप निशाख़ातिर रहें। मैं उस बदमाश से डरने वाला नहीं, जान चली जाए लेकिन झुकूँगा नहीं उसके आगे....

सब्ज़ी लेने वालों की आमद बढ़ गई थी। इसलिए बात यहीं ख़त्म हो गईं। पत्नी रंज में डूबी सीढ़ियाँ चढ़ती ऊपर आ गईं। सारी बात मुझे कह सुनाई। मैं भी ग़म में डूब गया।

थोड़ी देर तक उसके तराजू बटखरे की आवाज़ आती रही, फिर सब शांत। मैंने नीचे देखा, नीम के नीचे यादव जी का नीले रंग का स्कूटर खड़ा था।

●

दूसरे दिन सुबह पत्नी उसका बेसब्री से इंतज़ार करती रहीं। वह दूर से आता दिखा तो उनमें जान-सी आई। झटपट सीढ़ियाँ उतरती उस तक पहुँचीं। वह बुझा-बुझा सा था, चमकती आँखें भय से सिकुड़ती, मुर्दार लग रही थीं, पनियाई-पनियाई।

पत्नी ने पूछा– खैरियत तो है भाई जान?

वह बोला– क्या ख़ैरियत है, आपने कहा था, पुलिस से मिलो, टी.आई. घुरैया से मिला तो वह बोला, मुझे मुश्किल में मत डालो, वो साला तो मुझ पर अड़ी डाले रहता है। एक दिन तो उसने मेरी गर्दन ऐसे पकड़ ली मानों तोड़ डालेगा...

पत्नी अफ़सोस में सिर झटक रही थीं कि वह बोला– एक अरदास है आपसे मैडम, आप कर दें तो ताज़िन्दगी शुक्रगुज़ार रहूँगा....

पत्नी ने कहा– अरदास नहीं, हुकुम करें आप...

वह बोला– मेरी घरैतिन तो परसाल गुज़र गई थी। दो बच्चे हैं। एक पाँच साल का, एक तीन का। मुझे उनकी फिकर है, उनका क्या करूँ? आप अपने गेराज में रख लें कुछ दिनों के लिए, मैं इधर-उधर हो जाता हूँ, फिर देखता हूँ क्या होता है, जो खर्चा-पानी होगा, मैं दूँगा, आप इसकी चिंता न करें। बच्चे गऊ से भी सीधे, मेमने हैं, कुछ दे दो तो खा लेंगे नहीं खेलते रहेंगे. .. चुप सो जाएँगे.... हट्ट! पता नहीं कहाँ से अचानक ठेले के पास बकरी आ गई थी जो मैथी पर मुँह मारने ही वाली थी कि तभी उसने उसे देख लिया। वह सपाटे से चीख़ता हुआ उसकी ओर लपका हाथ फटकारता– इन बकरियों के मारे तो और आफ़त है– फिर पत्नी की ओर देखते, अपने ट्रैक पर आते बोला– असल में उन हत्यारों के आगे मेरे साथ कोई है नहीं, सब कन्नी काट रहे हैं, नहीं बताता, एक लपाटे में ज़मीन चटा दूँ, लेकिन माजूर हूँ. ...

पत्नी ने कहा– बच्चों को छोड़ जाओ, खर्चे-पानी की कोई बात नहीं, भगवान का दिया बहुत है– लेकिन मैं सोचती हूँ आप फ़िक्र न करें, कुछ नहीं होगा, बो ऐसई धमकी दे रहा है, कुछ कर नहीं सकता...

वह बोला– मैडम, आपको नहीं पता है, घुरैया ने तो ऐसी-ऐसी बातें बताई हैं कि क्या कहूँ, लेकिन फिर भी देखता हूँ साले को– मैं डर ज़रूर रहा हूँ लेकिन झुक नहीं रहा....

थोड़ी देर तक वह लोगों को सब्ज़ियाँ देता रहा। पत्नी वहीं खड़ी रही। जाते-जाते उसने पत्नी की ओर कातर-द ष्टि से देखा जैसे बच्चों के बारे में फिर से कुछ कहना चाह रहा हो; लेकिन बोला कुछ नहीं। ठेला धकाता आगे बढ़ गया था।

पत्नी मुरझाई शक्ल लिए धीरे-धीरे सीढ़ियाँ चढ़ती ऊपर आईं। जब वे उसकी बातें बता रही थीं, उनकी आँखें गीली, गला रुँध-रुँध रहा था।

●

सब्ज़ीवाले को गए तीन माह से ऊपर हो गया है, वह लौटा नहीं। पत्नी रोज़ाना सुबह छज्जे पर खड़े होकर उसका इंतज़ार करतीं। आख़िर में निराश हो जातीं, कहतीं– सुनो जी, कहीं कुछ गड़बड़ तो नहीं हो गया भाई जान के साथ! बदमाश उन्हें धमकियाँ दे रहा था, ज़रूर कुछ अनर्थ हो गया, नहीं इत्ते दिनों में कभी तो दिखते... ..

मैं पत्नी को दिलासा देता लेकिन इसका उन पर कोई असर न होता।

●

लेकिन इधर पाँच-छे दिन से तो वे ज़्यादा हैरान-परेशान हैं, कहा जाए कि बेचैन हैं। किसी ने, शायद यादव जी के किसी पट्टीदार ने उन्हें यह ख़बर दी कि भाई जान और उनके दोनों बच्चे झोपड़े में मरे मिले, पता नहीं किसने उनकी जानें ले लीं. इस ख़बर से पत्नी का सुख-चैन उड़-सा गया है। जैसे सगे की मौत हो गई हो। हज़ारों बार भाईजान की बातें करके रो चुकी हैं। ऐसे हालात में उनसे घर का काम भी नहीं हो पा रहा है। ऑफ़िस का लंच बाक्स लगाती हैं तो पराठा तो रख देती हैं सब्जी अचार रखना भूल जाती हैं। खुद भी ठीक से खा-पी नहीं रही हैं। न ढंग से नहाना-धोना हो रहा है– घर की भी हालत बदतर होती जा रही है। मेरे कहे का उन पर कोई असर नहीं।

कुछ दिन तो ऐसई चलता रहा, लेकिन अब मैं परेशान हो उठा हूँ। बर्दाश्त के बाहर हो रहा है सब! मुझे चिढ़-सी उठ रही है। अब आप यह देखिए, यादव जी के साथ घोड़ानक्कास गई हैं, भाईजान की ख़बर लेने। पता लगाने कि बात सच है या किसी ने उड़ा तो नहीं दी! अभी तक लौटी नहीं हैं। मुझे ऑफिस जाना है। साढ़े ग्यारह हो रहे हैं। कई दिनों से क्रास लग रही है, उसके पैसे कटेंगे और पत्नी का हाल ये है कि इसकी ज़रा भी चिंता नहीं। कब आएँगी, कब खाना बनेगा, कब खाऊँगा, कब ऑफ़िस जाऊँगा। पास में तो है नही, दस किलोमीटर जाना होगा। वह भी भारी ट्रैफिक के बीच! जाम लग गया तो गए काम से। क्या करूँ,

हे भगवान....

मैं कमरे से अंदर-बाहर हो रहा हूँ। सड़क की तरफ़ ताक-ताक के झल्ला उठा हूँ। नीचे भी हो आया। माईं से पूछा तो बोलीं, काहे परेशान होते हो, आ जाएँगी, इन्हें भी तो ऑफ़िस जाना है.... ये तो एक बजे से पहले निकलते ही नहीं और तीन बजे फिर घर....

अब मैं क्या जवाब देता। माईं हैं कि कुर्सी डाल देती हैं– लाला जी, बैठो तो सई, मगोड़े बनाएँ हैं खा के तो देखो, तुम्हारे यादव जी तो आज रोटी नहीं खाएँगें, बस मगोड़े ही खाएँगे।

मैं बिना जवाब दिए सीढ़ियाँ चढ़ने लगता हूँ– भयंकर गुस्सा सवार है सिर पर।

एक घण्टा और बीत गया। ऑफिस से चार-पाँच फोन भी आ गए कि साहब याद कर रहे हैं, ज़रूरी फाइल उन्हें चाहिए, मंत्रालय लेके जाना है....

गाड़ी की चाबी लेके ऑफिस निकल जाने के लिए मन बना ही रहा था कि सीढ़ियाँ बजीं। ज़ाहिर था कि पत्नी आ गईं।

मैं भयंकर झल्लाया हुआ था। पत्नी की आँखें गीली, चेहरा उतरा हुआ था। लगता था जैसे रास्ते भर रोते हुए आई हों।

मैंने चीख़ के कहा– मैं ऑफ़िस निकल रहा हूँ, तुम मातम मनाओ.....

पत्नी बोलीं– ज़ालिमों ने भाई जान और उनके बच्चों को मार डाला, कित्ते गंदे लोग हैं– कहते हुए वे रो पड़ी थीं।

अब मुझसे रहा न गया, अलफ होकर चीख़ पड़ा– तू तो ऐसे रो रही है जैसा तेरा ख़सम मर गया हो... कमीन कहीं की नीच.

पत्नी को भरोसा न था– मैं इस हद तक जाऊँगा और ऐसा अश्लील व्यवहार करूँगा।

मेरे व्यवहार ने उन्हें हिलाकर रख दिया। पहले वह सिर थामे बैठी रहीं जैसे बेपनाह दर्द उठा हो, फिर यकायक मेरे सामने आ खड़ी हुईं मानो मुझे फाड़ डालेंगी। मेरे मुँह के आगे दोनों हाथ चमकाती बोलीं– हाँ, मेरा ख़सम मर गया है। ख़सम !!!

मैं स्वयं कल्पना नहीं कर सकता था कि ऐसा व्यवहार करूँगा। मैं बहुत-बहुत लज्जित था, अपनी ही नज़रों से गिरा हुआ।

● ● ●

लघुकथा

सपने में औरत

रात को पिता जी (ससुरजी) को सपना आया था। बहुत खिन्न और अप्रसन्न थे। छोटी बहू के कारण पूछने पर बोले– 'कल रात सपने में आई थी।'

'कौन?' उत्सुक बहू।

'और कौन... वही तुम्हारी सास। मरी कहां और सपने में कहां आ रही है।'

दिल्ली के दंगों में बड़ा बेटा मार दिया गया था। उसके भोग में अरदास के वक़्त सब उठ कर खड़े हो गये थे। मां बैठी ही रह गई थी। जड़। निष्प्राण। पिता जी छोटे बेटे के पास जालंधर आकर रहने लगे थे।

'पिता जी मरने के बाद इन्सान रूह में बदल जाता है। रूह कहीं भी आ जा सकती है।' छोटी बहू का तर्क।

'मरने के बाद भी चैन नहीं लेने देती है, कमबख़्त। अब सपने में आने लगी है।' पिता जी की खिन्नता झुंझलाहट में बदल गयी थी।

'आपसे प्यार था न उन्हें...'

'हूं अ प्यार!... उसकी ओर देखता ही कौन था।'

'फिर ग्यारह बच्चे कैसे पैदा कर दिए आपने!' छोटी बहू कहना चाहती थी पर कह नहीं सकी थी।

अमरीक सिंह दीप

कहानी

सुनो तो पुरबैया....

जयश्री राय

उसे देखकर समंदर के किनारे चलते हुए मेरे पाँव यकायक ठिठक गये थे, उस समय डूबती सांझ की साँवली पड़ती रोशनी में एक ज़िंदा मांसल सम्मोहन की तरह वह अपने आस-पास जादू का तंद्रिल मौसम सजाये हर तरफ से निर्लिप्त, असम्प क्त-सी बैठी हुई थी– आँखों में सारा समंदर लिए– घूसर सपनों की एक उदास, निसंग दुनिया..... मैंने थोड़ा और पास जाकर उसे गौर से देखा था– शापग्रस्त वीनस की तरह था उसका चेहरा– खूबसूरत, मगर बेतरह उदास भी ! आयवरी गोल्ड त्वचा पर शनैः-शनैः जर्द पड़ते आकाश की नीली, विवर्ण छाँह ओढ़े– अपनी आखिरी कौंध को समेटने के असफल प्रयास में नीरव, निरंतर... बहुत थकी हुई, मगर एकदम शांत! इसके विपरीत उसके आसपास रंग और चमक का एक उत्तेजक हाला-सा बना हुआ था। धधकती हुई सुनहरी लपटों की तरह उसके बाल थे, तेज हवा में उलझकर जंगली आग की तरह बेतरतीव फैलते हुए.... दिसंबर की हल्की आँच भरी धूप गोरी देह पर केसर बनी दहक रही थी।

पद्मासन की मुद्रा में बैठी वह डूबते हुए सूरज को अपलक देखे जा रही थी। अपने आसपास की चहल-पहल से एकदम अलग-थलग किसी एकाकी द्वीप की तरह, जैसे किसी और दुनिया में हो। उसके उस गहरे मौन को देखकर एक क्षण के लिए इच्छा हुई थी। समंदर को किनारे पर टूटने से रोक दूँ। इस निविड़ मौन में कोलाहल की उद्दंड दरारें नहीं पड़नी चाहिए। एक सूखी जगह देखकर मैं उससे थोड़ी दूर चुपचाप बैठ गया था। स्लेटी रेत में पैर धँसाकर। सामने समंदर उफनने लगा था। यह ज्वार का समय था। पीछे सब्ज़ पहाड़ियों की तलहटी पर नारियल की कतारे तेज हवा में सरसरा रही थीं। सूखती हुई मछलियों की गंध से हवा भी बोझिल थी। अपने सामने बिखरी शंख-सीपियों की तिलस्मी दुनिया से बेखबर वह लड़की अब भी क्षितिज में निगाहें जमाये हुए बैठी थी। जाहिर था, वह सामने के द श्य के परे कुछ और ही देख रही थी।

सूरज के डूबने के बाद आकाश का रंग नीचे की तरफ गहरा गेरूआ हो गया था। दूर समंदर के सीने पर लंगर डाले हुए जहाजों की बत्तियाँ भी एक-एक कर अब तक जल उठी थीं। लहरों पर डोलती नावों की साँवली छायाएँ टूटकर काले मनकों की तरह दूर-दूर तक बिखर रही थी। किनारे पर मछली पकड़कर लौटी हुई नावों के पास मछेरों का जमघट लग चुका था। उनके उत्तेजित होकर जोर-जोर से बोलने की आवाज़ लहरों के शोर मे मिलकर एक हल्की गुनगुनाहट की तरह यहाँ तक सुनाई पड़ रही थी। ऊपर जलपक्षी गोल-गोल घूमते हुए लगातार चीख रहे थे। उनके सफ़ेद, लंबे डैनों पर शाम की आख़िरी धूप चमक रही थी।

जयश्री राय
जन्म : हजारी बाग
शिक्षा : एम०ए० हिन्दी, गोवा विश्वविद्यालय
व्यवसाय : कुछ समय तक लेक्चरर, पत्रकारिता, बंगला फिल्मों में अभिनय, स्वतंत्र लेखन
सम्पर्क : तीन माड, मायना शिवोलि, गोवा– मो० 9822581137

पूरी फ़जा सांझ की एक अनाम-सी नीली उदासी में डूबी हुई थी। आकाश में एक उजला तारा न जाने कब चुपके से निकल आया था।

बहुत देर तक बैठने के बाद मैं अपने कपड़ों से रेत झाड़ता हुआ उठ खड़ा हुआ था। वह लड़की अब एक फेरी वाले से कुछ खरीद रही थी। शायद कीमत को लेकर दोनों में कोई बहस हो रही थी। दोनों ही एक-दूसरे की भाषा ठीक से समझ नहीं पा रहे थे। फेरीवाला डिक्शनरी निकालकर अपनी टूटी-फूटी भाषा में लड़की को समझाने की कोशिश कर रहा था। मैं मदद के लिए उनके पास जा खड़ा हुआ था। उसने मुझसे पूछ-पूछ कर पत्थरों की एक माला का दाम तय करके उसे खरीद लिया था। नीले पत्थरों की वह माला अपने गले में डालकर उसने सहज मुस्कुराहट के साथ मुझसे पूछा था कि वह कैसी लग रही है। मैंने उसकी तरफ संकोच के साथ देखा था– सीने पर गाँठ मारकर पहनी हुई लूंगी पर एक मुट्ठी सितारे-से बिखरे दाने, ठीक जैसे गहरे नीले समंदर के सीने पर झिलमिलाती हुई रोशनी की अनगिनत बूँदें.. . मेरे अंदर एक लहर-सी उठी थी, कहीं अलक्ष ज्वार चढ़ रहा था। न जाने मेरी आँखों में उसने उस क्षण क्या देखा था, एकदम से रंग गयी थी, गालों के गड्ढों में गुलाब चटक आये थे। मेरे भीतर भी एक डूब-सी पैदा हो गयी थी, जैसे अचानक से कुछ धड़कने खो गयी हों।

होटल की तरफ लौटते हुए उसने बताया था, वह इटली की रहने वाली थी। उसका नाम ओसन था। ओसन... इस शब्द में पूरा समंदर जैसे अपनी तमाम गहराई और बेचैनी के साथ समाया हुआ था। ओसन.... अपने होठों ही होंठों में उसका नाम दुहराते हुए मैंने उसकी गहरी आँखों और लहराते हुए बालों की तरफ देखा था, कितना अजीब था– इस डूबती सांझ में वह आकाश, धरती और समंदर से मिलकर उन्हीं का एक अभिन्न हिस्सा बन गयी थी जैसे! समरस, एकाकार.... मेरी आँखों में देखते हुए वह एकबार फिर झेंप गयी थी। मुझे उसका यूं बात-बात पर एक हिंदुस्तानी लड़की तरह शरमाना, सकुचाना न जाने क्यों अच्छा

लगा था।

आगे चलकर पता चला था वह भी उसी होटल में ठहरी हुई थी, जिस होटल में मैं रह रहा था– द ब्लू लैगून!

उस शाम हम होटल के बरामदे में बैठे रहे थे देर तक। सामने उफनता हुआ स्याह समंदर सफेद झागों में टूटकर किनारे पर बिखर रहा था। तेज़ हवा में पाम व क्ष की चौड़ी हथेली-सी पत्तियाँ सरसरा रही थीं। आकाश में चाँद नहीं था। बस तारे थे, ढेर सारे। उन्हीं के धुंधले प्रकाश में समंदर और रेत पर मोतियां आब बिखरा था। रात धुल कर हल्की गोरी हो आयी थी। मैंने गौर किया था, उतरती रात के साथ ओसन की आँखों का रंग भी बदल गया था। अब गहरी स्लेटी पुतलियों में एक काला समंदर था– अनमन और उदास....

हमारे सामने रखे बीयर के फ़ास्टेड काँच के गिलासों के बाहर पानी की नन्हीं बूँदे जमी हुई थी। हल्के भूरे द्रव्य में निरंतर बुलबुले उठ रहे थे। फ्रायड मसल्स् की गंध से हवा बोझिल हो रही थी। अंदर लॉबी में कैलिप्सो की धुन बज रही थी। कुछ जोड़े अपने में डूबे हुए नाच रहे थे। ओसन नहाकर अपने कमरे से गीले बालों में ही चली आयी थी। धूप में जलकर उसका रंग सुर्ख, तांबई हो गया था। बाँह पर चमड़ी झुलसकर निकल आयी थी। एक सिगरेट सुलगाकर गहरा कश खींचते हुए उसने कहा था, 'मैं यहाँ गोवा में आपका देश देखने आयी थी। मगर यहाँ आकर मुझे सिर्फ़ अपनी संस्कृति की नकल ही देखने को मिल रही है, वह भी निहायत भोंडी किस्म की। सच, बड़ी निराशा होती है! फिर नकल में भी अक्ल की जरूरत पड़ती है....' कहते हुए जब वह खुलकर हँस पड़ी थी। हँसते ही उसके मोतिया दाँत में एक साथ अनगिन चाँद चमक उठे थे। अंदर से अनमन होते हुए भी मैंने प्रतिरक्षा में तर्क देने का प्रयास किया था– दरअसल हम हिंदुस्तानी लोग सहिष्णु होने के साथ-साथ बहुत ग्रहणशील भी होते हैं, दूसरी संस्कृतियों को बहुत कुछ देते हैं तो जहाँ जो कुछ अच्छा होता है उसे ग्रहण भी करते हैं। ये उदारता तो होनी ही चाहिए। इसलिए हमारी संस्कृति इतनी सम द्ध और वैविध यपूर्ण है।'

मेरी बात को उसने गौर से सुनी थी– उदार होना अच्छी बात है, मगर इतना भी नहीं कि अपनी जड़-जमीन से ही कट जाय, अपनी पहचान, अपनी अस्मिता ही खो दे... उस रात उससे विदा लेकर अपने कमरे में आया तो एकबार फिर अपने अकेलेपन से घिर गया। सपाट दीवारें जैसे परिचित चेहरों में तब्दील होकर सामने आ खड़ी हुई थी। सन्नाटे में एक भयावह शोर था। जल के तल पर हिलते हुए सेवार की तरह एक चेहरा धीरे-धीरे हिलते हुए आँखों के सामने स्पष्ट हो उठा था– म णाल का चेहरा..! म नाल– मेरी पत्नी- जो थोड़े ही दिनों में मेरी पत्नी नहीं रह जायेगी। हमारा डिवोर्स केस अपने अंतिम चरण में था। सात जन्मों का रिश्ता सात महीने भी टिक नहीं पाया। स्वर्ग में बनने वाला रिश्ता धरती पर टूटकर बिखर गया। प्यार के नाम पर यातना और प्यास का एक अंतहीन मरू जीता आ रहा था अब तक। अब चाहता हूँ कि ये सब जल्दी ख़त्म हो जाय, सहने की सीमाएँ टूट गयी थीं।

म णाल को घर नहीं, आजादी चाहिए थी, खुला आकाश और अंतहीन ज़मीन चाहिए थी। अपना परिचय, अपना नाम... इसके आगे सब कुछ गौण था उसके सामने। कैरियर, नाम, शोहरत के पीछे पागल.... बहुत ज़्यादा महत्वकांक्षी.... ऐसी औरतों के लिए संबंध, बंधन और घर कारावास हो जाता है। ये पश्चिम की उन्मुक्त हवा... घर को बिखेरकर खुले बाज़ार में तब्दील करके रख दिया है। करवट बदलते हुए मेरी आँखों के आगे ओसन का चेहरा तैर आया था– तरल अंधकार में मोतिया आब से टलमल, उन्मुक्त, स्वच्छंद और आज़ाद.... ऐसा ही बनना चाहती है न म णाल... मेरे अंदर विद्वेष और प्रतिरोध का एक तेज़ रेला आकर गुज़र गया था। ये बहकी हुई पुरबैया न किसी दामन की, न वतन की! बस, आवारगी और बंजारापन। अपनी रौ में बहती हुई कभी मुड़ कर नहीं देखेगी, अपनी हवस में किस-किस की दुनिया उजाड़ आयी है.....

रात के अंधकार और नींद के बीच न जाने कब और कैसे म णाल और ओसन के चेहरे आपस में गडमड् हो गये थे। एक गहरी वित ष्णा और दंश लेकर उस रात मैं सोया था– रूलाई और परछाइयों से भरी एक बेचैन नींद..... दूसरे दिन सुबह उठा तो सर काफ़ी भारी था। लाउंच में बैठकर काली कॉफी पीते हुए मैंने ओसन को देखा था। पीले छींटदार घाघरे में सूरजमुखी की तरह दपदपाती हुई! सुबह की रोशनी में वह किसी ताज़ी खिली लिली की तरह खूबसूरत और चमकदार लग रही थी। ऊर्जा और उछाह से भरी! शायद कहीं बाहर निकल रही थी। मुझे देखकर हाथ हिलाते हुए चिल्लाई थी– समुद्र स्नान के लिए जा रही हूँ, आप भी चलना चाहेंगे? मैंने कहा था, मैं नाश्ते के बाद आ जाऊंगा। मगर मैं गया नहीं था। न जाने कल रात की सोच ने मेरे अंदर पूर्वाग्रह के कैसे बीज डाल दिये थे। म णाल के लिए मन में जमी रहने वाली शिकायतें और गुस्सा अनायास ओसन के हिस्से में भी आ गया था। दो अलग-अलग देशों की दो स्त्रियों के बीच न जाने मैंने किस तरह साम्यता ढूँढ़ ली थी। मेरी सारी तकलीफ़ों का उत्स यहीं कहीं छिपा था। म णाल और ओसन जैसी आज़ाद ख़्याल लड़कियों के ही कारण आज मेरा घर टूट रहा था। ये माफ़ी के काबिल नहीं।

सारा दिन मैं आंजुना में लगने वाले

शुक्रवार के हिप्पी मेले में घूमता रहा था। रंग-बिरंगी शट्स, घाघरा, राजस्थानी छाप की चटकीली, भड़कीली चादरें, चूनड़ी, हिप्पियों की इस्तेमाल की हुई गंदी जींस, परफ्युम, कैमरा आदि चीजें देखते हुए तथा एक-दो चीजें खरीदते हुए दोपहर को समुद्र तट पर एक छोटी-सी झोंपड़ी में फिश रेसीयाद के साथ मैंने एक बड़ा कच्चा सलाद खाया था। टूना मछली का अधकच्चा कतला मुझसे खाया नहीं गया था। और फिर वहीं मुझे ओसन दिखी थी। तीन हिप्पियों के साथ चिलम के कश लेती हुई। मैं वहाँ से उठकर चुपचाप चला आया था। उसने मुझे देखकर भी अनदेखा कर दिया था।

उस दिन शाम को होटल लौट कर मैंने उसे बॉल्कनी में एक चटाई पर पदमासन की मुद्रा में बैठे हुए देखा था। आज भी वह डूबते हुए सूरज को निहार रही थी। शायद प्राणायाम कर रही थी। आसपास हवा और समंदर के अनवरत शोर के सिवा कुछ न था। दूर दरिया के सीने पर जलक्षियाँ मछलियों पर झपटते हुए लगातार चीख रहे थे। नारियल के लंबे, चीरे पत्तों के बीच मौसम का एक टुकड़ा नया चाँद अटका था। एक हल्की बैंजनी रोशनी में पूरा माहौल डूब रहा था। हम दोनों एक एक-दूसरे से बिना कुछ कहे देर तक चुपचाप बैठे रहे थे। अंदर हॉल में आज किसी ने गज़ल लगा दी थी– दिल में एक लहर-सी उठी है अभी, कोई ताज़ा हवा चली है अभी... अब सागर तट पर मुकम्मल सन्नाटा था। दूर लाईट हाउस पर जलती रोशनी की तेज लकीर आकाश में एक छोर से दूसरे छोर तक रह-रह कर घूम रही थी। ऊँची मचान पर बैठे तटरक्षक कभी सीटी बजाकर तो कभी टार्च मारकर लापरवाह सैलानियों को सावधान कर रहे थे। कोई शराबी रेत पर लेटा हुआ ज़ोर-ज़ोर से गाना गा रहा था। हवा मत्स्यगंधा बनी नारियल के पत्तों से उलझी जा रही थी। मैंने गौर किया था। ओसन का रंग आज और भी तांबई पड़ गया था। शायद सारा दिन धूप सेंकती हुई गर्म रेत पर पड़ी रही थी।

काफी देर बाद एक सिगरेट सुलगाकर उसने मेरी तरफ देखा था– 'मैंने गौर किया है कि आपकी औरतें समंदर में साड़ी पहनकर नहाने उतरती हैं। दैट्स वेरी फनी.... आप हिंदुस्तानी लोग देह के संदर्भ में इतने कुंठित क्यों होते हो? इसे कोढ़ या पाप की तरह छिपाती हो।'

मुझे उसकी बात नागवार लगी थी। मैंने आवेश में भरकर जवाब दिया था– 'ये शायद आप न समझ सको। हमारी स्त्रियाँ अपनी देह का सम्मान करती हैं, उन्हें नुमाइश का सामान नही समझतीं कि जिस-तिस के सामने उघाड़ती फिरे....'

'आई सी....' सुनकर वह अजब ढंग से मुस्करायी थी– 'तुम्हारे देश में औरतें अपनी मर्जी से कपड़े नहीं उतारतीं, मगर दूसरों की मर्जी से भरी सभा में उसके कपड़े उतारे जा सकते हैं... नहीं! पढ़ा था कहीं।' मेरे चेहरे के कठिन होते भाव को देख कर वह कहते हुए ठिठक-सी गयी थी। मगर उसकी बात सुनकर मैं भी गहरे असमंजस में पड़ गया था। क्या कहूँ यकायक सोच नहीं पा रहा था। मुझे चुप देखकर उसने झिझकते हुए अपनी बात आगे बढ़ायी थी- 'लिबास' आराम और सुंदरता के लिए पहना जाता है। अपने को कलात्मक ढंग से छिपाने के लिए और दिखाने के लिए भी। कपड़ा तब गलत हो जाता है जब वह इंसान के लिए कैद या कारावास बन जाता है। पर्दे या हिजाब की शक्ल में कपड़ा खालिस गुनाह हो जाता है। ऊपरवाले ने जिस औरत को बड़े मेहनत से रचा-गढ़ा है, उसे सात पर्दो से ढाँक कर हम उसे ग्लानि में बदल देते हैं। क्या हम अपने सर्जक के इस अनुपम स जन से इतना शर्मिंदा हैं। कि उसे एक पाप की तरह छिपाते फिरते हैं? हम मिट्टी-पत्थर की इस दुनिया को खुली नज़र से देख सकते हैं, मगर कुदरत की सबसे हसीन तोहफ़ा औरत को नहीं देख सकते। उसे उम्रभर इस दुनियां की चहल-पहल और मेले से फ़रार रहना पड़ेगा, उस जुर्म के लिए जो उसने खुद किया नहीं है- अपने होने का जुर्म। आप सोचिए एकबार, यदि ऊपर वाला औरत को इस दुनिया से छिपाकर ही रखना चाहता तो फिर उसे जल्वागर करता ही क्यों? रख लेता उसे अपनी तरह सूक्ष्म, निराकार करके... जो मिट्टी के बुत मालिक ने खुद रचे हैं। उससे नफ़रत करने वाले या उसे ज़मीन से लापता करने वाले हम वंदे कौन होते हैं।'

उसकी बातें अनोखी थी, एक नया द ष्टिकोण लिए। मगर मैं अब भी हारने के लिए तैयार नहीं था, इसलिए अपने वक्तव्य के पक्ष में कुछ कहना ज़रूरी हो गया था, मगर क्या, अब भी सोच नहीं पा रहा था। मेरे चेहरे पर अंदरूनी द्वन्द्व की छटपटाहट रिस आयी थी शायद, जिसे देखकर उसने एक गहरी साँस ली थी- 'देवी, ग हलक्ष्मी जैसी उपाधियों से लादकर स्त्रियों के दमन और शोषण का इतिहास इस दुनिया में बहुत पुराना है। उस संस्कृति से औरत को क्या मिलने की उम्मीद की जा सकती है भला, जहाँ उसकी देह पर भी, जो उसका अपना प्रकृति प्रदत्त देश है– उसका अधिकार नहीं। अपनी इच्छा से वह अपने मन के पुरुष का वरण तो नहीं कर सकती, मगर दूसरों की आज्ञा से पाँच-पाँच पतियों को झेलने पर विवश ज़रूर हो जाती है। एक बात कहूँ, जब धर्म के नाम पर कोई धर्मराज एक असहाय स्त्री को जुए के दाँव पर लगा देता है, तब सारे अधर्म पर धर्म का ठप्पा अपने आप हमेशा के लिए लग जाता है।'

अचानक मुझे लगा था, उसने हमारे पूरे अतीत को कठघरे में खड़ा कर दिया है। इस अतीत का विरासत लिए मैं वर्तमान में खड़ा-खड़ा स्वयं को किसी पुराने गुनाह का जिम्मेदार महसूस करने लगा था। इस अप्रिय प्रसंग को बदलने की गरज से मैंने पूछा था– 'आप यहाँ के विषय में लगता है, बहुत कुछ जानती हैं।'

'जी, मगर बहुत नहीं, थोड़ा बहुत। पाँच वर्षों से भारत में हूँ। पहले ऋषिकेश में दो साल थी, फिर बनारस, व ंदावन और आपके गोवा में।'

'अच्छा....!' मुझे सुनकर सचमुच आश्चर्य हुआ था– 'आप इतने दिनों तक क्या करती रही है यहाँ?'

'पूरब को समझना चाहती थी, पश्चिम से मोहभंग हो गया था....' अपने गिलास में बचे बीयर को उसने एक लंबे घूँट में

समाप्त कर दिया था। मैंने फिर गौर किया था, अब उसकी पुतलियों का रंग बीयर की तरह हल्का भूरा हो आया था। कैसे मौसम और मिज़ाज के साथ क्षण-क्षण रंग बदलती थी उसकी आँखें.... और त्वचा भी, उसकी मधु होती रंगत को देखकर मुझे ख़्याल आया था।

तेज़ हवा में अपने रूखे, चमकीले बालों को सहेजते हुए अचानक उसने पूछा था– 'आपकी शादी हो गयी है? यहाँ तो शादी युनिवर्सल यानी अनिवार्य होती है।'

'हाँ, मगर अब टूट भी रही है– थैंक्स टु योर वेस्टर्न कल्चर!' मैं बीयर के हल्के सुरूर में अब कुछ तल्ख होने लगा था शायद। उसकी आँखों में न जाने क्यों यह सुनते ही गहरी चमक भर आयी थी। होंठों ही होंठों में मुस्कुराते हुए कहा था– हाँ, आपके समाज में बढ़ते हुए तलाक की घटनाओं का ठीकरा पश्चिम के सर पर जरूर फोड़ा जा सकता है, मगर ये किसी फैशन की अधी नकल नहीं, बल्कि वहाँ से आयी चेतना की नयी लहर का परिणाम है। यहाँ रिश्ता हमेशा से एक तरफा होता था– स्त्री की तरफ से। इसलिए निभ जाता था। जीवन और परिवार से मिली हर तकलीफ़ को औरत अपनी नियति मानकर सह लेती थी। मगर अब औरत समझ रही है, उसका भी जीवन और उसकी तमाम खुशियों पर उतना ही हक़ है जितना किसी और का। रिश्ते के नाम पर आजीवन एक बंधुआ मज़दूर बनकर जीना अब उसे मंजूर नहीं। वह जीवन से अपना हिस्सा मांग रही है। उथल-पुथल तो मचेगी ही। इसलिए आप लोगों के समाज का यह स द ढ़ किले जैसा ढाँचा चरमराने लगा है। अपनी गलतियों की जिम्मेदारी लेना आप लोग अब सीख लीजिए....'

अचानक उसकी बातों से मेरे तन-बदन में जैसे आग लग गयी थी। अंदर का कोई घाव दगदगा आया था। चोट पहुँचाने की एक हिंस्र इच्छा से भरकर मैंने कहा था– 'आप बहुत गलत ढंग से चीजों को देख-समझ रही हैं। पश्चिम की रंगीन ऐनक से आप पूरब की सात्विक संस्कृति को समझ नहीं पायेंगी।'

मेरे लहजे की धार से उसने यकायक मुझे देखा था– आप मेरी बातों का बुरा न मानें। आप के सामने अपने विचार रख रही हूँ। आप पढ़े-लिखे व्यक्ति हैं...'

जी बिल्कुल! मैंने स्वयं को सयंमित किया था।

'देखिए आप की सभ्यता में स्त्री को बहुत बड़ी-बड़ी उपाधियों से विभूषित किया गया है, मगर जब यथार्थ को देखती हूँ तो मन में सवाल उठते हैं....

'आपके कनफ्युजन को समझ सकता हूँ, मगर आप को समझना पड़ेगा, यहाँ की औरतें अलग ही मिट्टी की बनी होती हैं। उनकी सोच, प्रकृति और चरित्र बिल्कुल अलग होती है। हमारी औरतें त्याग, प्रेम तथा सहनशीलता की प्रतिमूर्ति होती हैं। एक तरह से उन्हीं के बल पर हमारे देश और समाज का पूरा ढाँचा बँधा और खड़ा हुआ है। इसलिए तो वे यहाँ पूजनीय हैं। ऐसे ही नहीं कहा गया है कि 'नारी तुम सिर्फ श्रद्धा हो।' कहते हुए मैं शायद कुछ ज़्यादा ही भावुक हो उठा था।

मगर मेरी बात सुनकर उसके चेहरे पर व्यंग्य की तीखी रेखाएँ खिंच गयी थीं। मुझे एकबार फिर गुस्सा आने लगा था। मेरी हर बात पर वह ताच्छिल्य से मुस्करायी है! मुझे गंभीर होते देख अब वह भी गंभीर हो गयी थी– 'आप लोगों की संस्कृति में आप लोगों ने स्त्रियों के लिए तरह-तरह के मिथ का निर्माण करके उन्हें इस इमेज़ के अनुसार जीने के लिए बाध्य कर दिया है। जो औरत उस इमेज़ की लक्ष्मणरेखा के अंदर जीये वह देवी, वर्ना छिनाल! अपनी आस्था, प्रकृति और मर्जी के अनुरूप जीने वालों को कैसा सुंदर और सार्थक नाम दिया है आप लोगों ने। अन्याय सहकर चुप रहने वाली और आँसू बहाने वाली सीता और द्रोपदी जैसी नारियों को आप लोगों ने अपनी औरतों का आदर्श बना दिया, मैत्रेयी, पुष्पा, घोषा, जाबाला जैसी औरतों को नहीं, जो फूल और अंगार से बनी थी।' बोलते हुए उसकी स्लेटी आंखों में कौंध भर आयी थी।

न चाहते हुए भी उसकी बातों ने मुझे सोचने पर विवश कर दिया था। क्या उसकी बातें अनर्गल थीं। वह अब भी आवेश में भरकर बोले जा रही थी– देखिए आपके धर्म और समाज ने औरतों को बहुत ऊँचा स्थान दिया है, मगर सिर्फ़ बातों में, व्यवहार में नहीं। जो स्त्रियाँ वेदों की ऋचाओं तक का निर्माण कर सकती हैं उसे कभी नरक का द्वार तो कभी 'ताडन की अधिकारी' समझा गया। क्या एक बात सोची है कभी किसी ने कि इसी 'नरक के द्वार' से दुनिया के सारे संत-पैगम्बरों का आविर्भाव होता रहा है। जो शैतान की बेटी है, वह पैगम्बर की माँ भी है? औरत को सिर्फ़ योनि मान लेना अपनी माँ गाली देना है.... दरअसल आपलोग जिसकी बात करते हैं, बकौल सीमोन द बौआ के वह स्त्री पैदा नहीं होती, बना दी जाती है, इसी धरती पर, इसी दुनिया में.... सच, बहुत विसंगति है यहाँ की संस्कृति में। दुनिया के सबसे बड़े लोकतंत्र में कौटिल्य जैसे लोग कहते हैं 'स्वतंत्र सिर्फ़ वेश्याएँ हो सकती है।' इंसान की सबसे बड़ी रूहानी ज़रूरत तो कैसा घटिया इल्ज़ाम दे दिया।

मैं निर्वाक था। क्या कह सकता था। उसकी बातें नंगी और तीखी थी, मगर एकदम सच भी। यह एक विदेशी स्त्री का हमारी संस्कृति के प्रति व्यंग्य या कटाक्ष नहीं था, मैं समझ सकता था, बल्कि एक औरत होने की हैसियत से अपने ही दुख और प्रतिरोध वह पूरी संजीदगी से दर्ज़ करा रही थी। उसका कहना अभी शेष नहीं हुआ था, वह कह री थी– 'आपलोग शब्दों को गहनों की तरह इस्तेमाल करके उनसे औरतों को बहलाते हैं– उन्हें हक़ भी देते हैं तो सेवा का। मगर मुक्ति या निर्वाण का अधिकार नहीं। औरतों की मुक्ति सिर्फ़ पति की सेवा में है.... औरतों को उसके स्त्रीत्व से बेदखल कर देने का ये कैसा गहरी साज़िश है! संबंध की दुहाई देकर बंधुआ मज़दूर बनाकर उसका आजीवन शोषण करने की साज़िश। मठों में उसका प्रवेश नहीं, मोक्ष का अधिकार नहीं, प्रजनन, शिक्षा, सम्पत्ति के अधिकार से वंचित... एक बात बताइये, दुनिया की आधी आबादी को नकार कर आप इसे मुकम्मल कैसे बनायेंगे?'

उसकी लाल जवाफूल बनी आँखों को देखकर मुझे लगा था, उसे नशा हो गया है। वोदका के तीन लार्ज पैग वह अब तक पी गयी थी। उससे पहले बीयर भी लिया था उसने। न जाने क्यों मैंने अचानक उसके समुद्र के किनारे टहलने के लिए पूछ लिया था। वह झट् मान गयी थी। हम दोनों टहलते हुए बीच पर आ गये थे। चलते हुए वह लड़खड़ा रही थी। मैंने उसकी बाँह पकड़ ली थी। गहरे होते नील भरे अंधेरे में उसका शरीर मोती की तरह चमक रहा था। तारों की फीकी रोशनी में वह एक सपने की तरह प्रतीत हो रही थी। धीरे-धीरे लहराती हुई... हवा, रेशम और गंध से गूँथी हुई... मेरे मन के किसी अज्ञात कोने में एक मीठे-से पाप ने अनायास जन्म लिया था– ये रात, समंदर का ये निर्जन किनारा और नशे में धुत् एक खूबसूरत विदेशी लड़की। ये तो होती हैं स्वच्छंद विचारों की, देहवादी संस्कृति की उपज... आसानी से मान जायगी... एकाएक मेरी आँखों के आगे म णाल का चेहरा कौंध गया था। उसे भी आज़ादी चाहिए– कुछ ऐसी ही। मेरे अंदर आक्रोश भर आया था– तो लो, आज़ादी के मज़े चखो... सोचते हुए अंजाने ही मेरी अंगुलियाँ ओसन की नर्म बाँह पर गड़ गयी थीं। हल्की कराह के साथ उसने मुझे देखा था। उसकी बोझिल पलकों पर आश्चर्य था। मैंने खींचकर उसे रेत पर बिठा लिया था। सामने गरजता हुआ स्याह समंदर हमारे पाँवों पर टूटकर बिखर रहा था। मेरे अंदर भी ज्वार की तरह एक उन्माद शनैः-शनैः चढ़ रहा था। कनपटियों पर उष्ण लहू का दबाव बढ़ता जा रहा था। ओसन हर तरफ से बेखबर रेत पर लेट गयी थी। उसकी आँखें बंद थीं। वह हल्के-हल्के गुनगुना रही थी– ओसन ऑफ फैंटसी....

एक पल की दुविधा के बाद मैं उस पर झुक गया था। मगर अपने होंठों पर मेरा स्पर्श महसूस करते ही वह मुझे परे हटाते हुए उठ बैठी थी– 'प्लीज नो....'

'वाई नॉट....' मेरे हाथ उद्दंड होने लगे थे।

'नो मिंस नो...' अचानक उसकी काँच जैसी नाज़ुक आवाज़ में इस्पात-सा कुछ कठिन घुल आया था। मैं अचकचा कर रुक गया था। एक झटके में बीयर का रूमानी नशा उतरने लगा था। उसकी जगह एक खींज और शर्म ने ले ली थी। वह उठकर खड़ी हो गयी थी। आप लोग किसी स्त्री के खुले व्यवहार को इतना गलत तरीके से क्यों लेते हैं। इसे उसकी चरित्रहीनता का द्योतक मान लेते हैं। अपनी कमजोरियों का आरोपण आप दूसरों पर कैसे कर सकते हैं! हर संबंध का अंत इसी बिंदु पर हो यह जरूरी तो नहीं? सेक्स को लेकर इतनी ग्रंथि, इतनी कुंठा क्यों होती है आपलोगों में!'

'मगर आपलोग फ्री सेक्स को गलत तो नहीं समझते।' अब मैं डिंफेसीव होने लगा था– 'ये सब तो आप के कल्चर में खूब होता है, फिर इंकार क्यों?'

'हम जो करते हैं अपनी मर्जी से करते हैं, किसी दबाव या मज़बूरी में नहीं। उन्मुक्त होने का अर्थ पशु होना नहीं है। हमारी भी पसंद-नापसंद और रुचि होती है....' उसका नशा धीरे-धीरे काफूर होता जा रहा था। अब वह काफ़ी सजग दिख रही थी। 'आप पूरब के लोग खूब चरित्र की बातें करते हैं, मगर सिर्फ़ स्त्रियों के लिए..... ये बहुत बड़ा दोगलापन है। आँकड़े बताते हैं, विश्व में सबसे ज़्यादा भारतीय पुरुष ही वेश्या गमन करते हैं। वह भी शादी-शुदा पुरुष.... तेज़-तेज़ कदमों से चलती हुई वह होटल की ओर लौटने लगी थी।

'आप ये सब क्यों कह रही हैं, आप पश्चिम की औरतें तो हम पुरुषों से भी ज्यादा आज़ाद हैं। मैंने भी सुना है, योरोप में हर तीसरा बच्चा नाजायज होता है....' न जाने अब मैं यह सब कहकर क्या साबित करना चाहता था।

मेरी झल्लाहट को समझकर वह चलते हुए व्यंग्य से मुस्करायी थी– आप को इस बात का ऐतराज नहीं है कि पश्चिम की औरतें स्वच्छन्द जीवन बिताती है। आपको इस बात का रश्क है कि पश्चिम में औरतों की देह उसके अपने अधिकार में है और वह सिर्फ़ अपनी मर्ज़ी से अपना शरीर किसी को सौंपती हैं और उसका सुख लेती हैं। आपलोगों का सामंतवादी अहंकार इतना विकट है कि आपलोग स्त्री को भोगना भी अपनी इच्छा से चाहते हैं, उसकी मर्ज़ी या रजामंदी से नहीं। हर जगह आपको अपना वर्चस्व चाहिए– बिस्तर में भी! प्रेम– तथाकथित प्रेम– में भी आधिपत्य की लड़ाई. ... अहम् का अति है ये...

हम दोनों चलते हुए होटल के पास पहुँच चुके थे। बाहर जलते हुए नियॉन लाइट की रोशनी में उसका चेहरा पारे की तरह झिलमिला रहा था। आँखों में आँच और दहक... अचानक मेरे अंदर ग्लानि का एक तीक्ष्ण दंश उठा था। ये मैं क्या करने जा रहा था.... उसने मुझ पर विश्वास किया था, मुझे अपना मित्र माना था और मैं.... अपनी शर्म में डूबा मैंने धीमी आवाज में उससे सॉरी कहा था। उसकी आँखें दूसरे ही क्षण तरल हो आयी थीं– 'इट्स ओके! हम औरतें सिर्फ़ सेक्स आवजेक्ट नहीं होते, माँ, बहन और दोस्त भी होते हैं, एक इंसान भी.... सेक्स को स्वस्थ ढंग से लें तो एक खूबसूरत अनुभव बन सकेगा, वर्ना व्यभिचार और ग्लानि.. इसे खालिस देह के स्तर पर जीना तो एक तरह से पशुता ही है। अच्छा, नाइस मीटिंग यु।' उसने अपना हाथ आगे बढ़ाया था– 'मैं कल अपने देश लौट रही हूँ।'

अरे, अचानक से.... मुझे उसकी बात सुनकर आश्चर्य हुआ था।

हाँ, बहुत सारी उम्मीदें लेकर यहाँ आयी थी, मगर अब..... कहते हुए यकायक उसकी आँखों के उजले सितारे सँवला आये थे। देखकर मेरे अंदर भी मटमैली परछाइयाँ भरने लगी थी। लग रहा था, बहुत बड़ा कसूर हो गया है मुझसे.... उसने अपनी बात की कड़ियाँ आगे बढ़ाई थी– बहुत कुछ पाया है यहाँ, मगर एक बात समझ पायी हूँ अपने अनुभवों से, यह दुनिया औरतों के लिए हर जगह एक-सी ही है, बस, कहीं अपेक्षाकृत थोड़ी बहुत बेहतर– जैसे पश्चिम। तो वहीं लौट रही हूँ.... वह मुड़ कर होटल के अंदर चली गयी थी। मैं चाहकर भी उसे रोक नहीं पाया था। थोड़ी देर अंधेरे में खड़ा रह कर उसके पीछे हो लिया था। न जाने क्यों, मुझे अचानक सर्दी-सी लगने लगी थी। मगर

तेज़ बहती हवा में मौसम की तपिश बरकरार थी।

उस रात मैं सो नहीं पाया था। पश्चिम के एक आवारा झोंके ने मुझे अपने पूरब की ठंडी बयार की याद दिला दी थी। मुझे म णाल का ख़्याल हो आया था। ओसन की बातों ने मुझे म णाल को समझने के लिए एक नयी द ष्टि प्रदान कर दी थी जैसे। मैंने एक परिंदे के पंख कतरने की कोशिश की थी। उसने नहीं, मैंने ही घर को पिंजरा बना दिया था– उसके लिए। अपने अहम् और स्वार्थ के आगे उसकी ज़रूरतों, सपनों को अनदेखा कर दिया था पूरी तरह। उसकी तड़प को उसका विद्रोह समझता रहा, उसकी महत्वाकांक्षा समझता रहा.... घर को तो टूटना ही था। मगर शायद अब भी बहुत देर नहीं हुई थी। ईमानदारी से कोशिश करने से अब भी बहुत कुछ ख़त्म होने से बचाया जा सकता है..... मैंने सोच लिया था, कल मैं भी घर लौट जाऊँगा। मुझे म णाल से अपनी गलतियों की माफ़ी मांगनी थी.... यह तय कर लेने के बाद अपने अंदर की अनाम खुशियों और उम्मीदों को सहेजे खिड़की पर खड़ा होकर मैं तट पर पछाड़े खाते हुए समुद्र को देर तक खड़ा देखता रहा था। मेरी आँखों के सामने क्षितिज में आकाश का रंग धीरे-धीरे फीका हो आया था। पूरब के आकाश में उगते हुए सूरज की किरणों से पश्चिम की धरती पर एक सुनहरी सुबह उतर आयी थी। हल्की बहती हुई हवा हरसिंगार की बासी, उनींदी गंध से बोझिल हो रही थी। एक पागल इच्छा से भरकर मेरा मन अचानक चाहा था, हाथ बढ़ाकर उसे अपनी मुट्ठी में बाँध लूँ– उस पुरबैया को जो इस धरती-आकाश से रूठकर पश्चिम के अथाह दिगन्त की ओर जाने लगी थी, शायद फिर कभी न लौटने के लिए, हमेशा-हमेशा के लिए.....

पंजाबी कविता

दीमक

परमिन्दरजीत

घर में जगह-जगह
अक्सर दिखाई दे जाती हैं
मटियाले रंग की लकीरें

घर की दीवारों पर
रेंग रही है दीमक
घर में सीलन है, उमस भी
इनके ही माध्यम से चलती है दीमक
बनाती है अपना घर

और एक दिन देखा
घर के दरवाज़े और चौखटें भी
आ गये हैं दीमक की चपेट में

कई बार अचानक
हो जाता हूं भयभीत
अपनी पीठ पर महसूस होती है जलन सी
मेरे भीतर भी कहीं
रेंग रही है दीमक

घरकी छत से भी अनवरत
झरता रहता है कुछ न कुछ
दीमक घर की छत तक जा पहुंची है शायद

यूं लगता है
अब यह मेरे साथ ही घर से आती है
और साथ ही घर लौटती है
दीमक से अब
कुछ भी रहा नहीं सुरक्षित
न मेरा मन– न मेरा तन
और एक दिन
मेरी हथेलियों से कुछ
मटमैला सा झरा
घर का मौन हुआ मुझसे मुख़ातिब

दीमक रिश्तों तक
जा पहुंची थी
घर निगल गई थी।

अनुवाद : अमरीक सिंह दीप

कहानी

आदमी और औरत उर्फ़ बीच रात की लोरी

प्रमोद सिंह

लड़की और लड़के की बातचीत

देर तक चुप रहने के बाद लड़की ने कहा, मैं तुम्हें जानती नहीं। उस कहने में सब जान चुकने का दंभ और न जान सकने की झुंझलाहट छिपी थी। धूप और दिन की थकान में पिघलती ठहर कर पूछा लड़की ने आख़िर तुम चाहते क्या हो? अकबकाये लड़के ने जहालत भरा जवाब दिया कोई, फिर हो गया गुमसुम। इस दरमियान पूछता रहा खुद से वह चाहता क्या है कितना जानता है। लड़की का हाथ पकड़कर किसी सस्ते-से बाग़ की छांह में टहलना चाहता है या सड़क के उस पार खड़े होकर साथ-साथ देखना चाहता है साथ-साथ देखते हुए कैसा दिखता है शहर। ढलती दोपहर गोद में डाब लिए लड़की के कंधे पर सिर टिकाकर उसकी फुसफुसाती शिकायतें सुनना चाहता है। पूछना चाहता है इस रंग से क्यों रंगती है नाखून या उसके बालों व कंधे के बीच उठती महक का नाम क्या है। चुपचाप मुंह पर हाथ धरे सोते में उसकी सांसें सुनना चाहता है। या फ़ोन पर बात ख़त्म करके मुस्कराती पलटकर कैसे आती है लड़की उसकी तरफ देखना चाहता है। रुमाल से माथे का पसीना पोंछती लड़की भन्नाकर कहती है यही दिक्कत है तुम्हारे साथ, किसी बात का सीधा जवाब नहीं देते। नौकरी के इतने झंझट हैं, सांस लेना मुश्किल है और मैं तुम्हारे पीछे दिन खराब कर रही हूँ। वैसे तुम अच्छे हो, नेक़ हो, भले हो, कल हाथ में सेब लिए आए थे कितना अच्छा लगा था मगर रोज़ इस तरह दिख करके हमें कहाँ ले जाओगे, खुद कहां जाओगे सोचा है। यह रोज़-रोज़ सेब नहीं खाती अच्छा होता। उस दिन तुम पास नहीं आते मैं किसी और रास्ते शहर चली जाती अच्छा होता।

आदमी कहता है, ''कैसे आता है सुख? आकर किन नज़रों से देखता है? कि उस ज़रा-सा देखने के छोटे पल के दरमियान ही उसकी टेक बदल जाती है? हमारी संगत में घड़ी भर साथ रहने का ख़्याल सुख को शर्मिंदा करता है? किसी कातर, दुखियारिन बिरहन की तरह निहोरा करते हैं इतने दिनों बाद दिखे हो। आज मन थोड़ा थिर हो जाये तब जाना?.. जवाब में सुख ऐसे देखता है मानो ग़लत पते आ गया हो!.... जैसे कभी हमसे दिल लगाया था आज उस दिन की याद से शर्मसार होता हो!.. इच्छा होती है सुख के मुंह पर तेजाब फेंककर उसे भूल जायें। हमेशा-हमेशा के लिए!.. जैसे ग़लती उससे नहीं, हमसे हुई थी कि सुख-से बेग़ैरत से कभी दिल लगाया था! मगर भूलना कहाँ हो पाता है? और दुष्ट सुख भी हमेशा-हमेशा के लिए गायब हो जाऊँगा, ऐसे करारनामें पर दस्तख़त करके कहाँ जाता है?.. अचक्के में, जब एकदम उम्मीद न हो, सपने के भीतर सपना के किसी सूराख से झांकता यकबयक सामने चला ही आता है.. कैसे आता है?''

लेखन, शब्दों के साथ रंग और चारकोल की चिचरीकारी का शौक, पैदाइश उड़ीसा में, विश्वविद्यालय की शिक्षा इलाहाबाद से, मिलान, इटली से सिनेमा का कोर्स करके मुंबई फ़िल्म बनाने पहुंचे, फिल्मों और टेलीविजयन के लिए लिखाई की है। फ़िलहाल एक ग्राफिक उपन्यास की कसरत में जुटे हुए।
'प्रतिलिपि' व 'तथा' में कुछ रचनाएं प्रकाशित। मुंबई में रहते हैं।
ब्लॉगों का ठिकाना है :
dak blogspot. com cilema[blogspot.com
laidZ % indiaroad@imail.com
+919820715034

औरत कहती है, ''जैसे कोई बिल्ली कूदती आती है दबे पांव, आता है वैसे सुख, नाखूनों में, बाल के जड़ में, सांस की हवा में. आता है सुख। गले के गोल सुबुक गड्ढे में, गर्दन के पिछले हिस्से में, घुटनों के पीछे, कलाई के नस पर... आता है सुख। मुड़ कर देखना मत। आता है सुख।

पानी में चहलती है मछली..... चांदी का तार, सूरज की किरण करती है अठखेली, बनाती है सुख की एक तस्वीर, खींचती है रेखा दिल के पार से, ठकमकाता है एक पल को ये समय फिर बिखर जाता है किसी निर्दोष हंसी में। पानी के बीच बालू के ढूह पर एक अकेला ढाक का पेड़ सुलगता है सिमटता है बिखरता है, ठीक उस हंसी को रंगता है लाल जैसे सूरज शाम को, जैसे खुशी गाल को। खिल-खिल धारा सी हंसी जैसे उफनता हो फेनिल जल प्रपात कोई। ऐसे आता है सुख। कॉफी के झाग में, देर रात तारों की संगत में, गुर्जरी तोड़ी के आलाप में.... ऐसे आता है सुख। सफ़ेद काग़ज़ पर एक कोने में उंगली से नारंगी पीले गोल में.... शब्दों के सपनीले महीन झुरमुट में, रात के बियाबान सर्द अकेलेपन में और दिन के भागम-भाग के रेले पेले में। ऐसे आता है सुख। एक दीर्घ निश्वास में, एक जम्हाई में, भूख की मीठी रोटी में, मटके के एक घूँट पानी में.. आता है सुख। नींद में, जागने में, हंसने और रोने में, जीने में... जाने कब दबे पांव आता है सुख।

जब खोजती हूँ दिखता नहीं, जब चाहती हूँ मिलता नहीं। दिन और रात के दरम्यान किसी दूसरी ओझल दुनिया में जाने

इधर कुछ अरसे से ब्लॉग पर नियमित

कहाँ दुबक गौरैया बन छुपा रहता है। और किसी दिन जब सब फिसलता सा लगता है तब आता है किसी एक झूठी सी हंसी की पीठ पर सवार और लद से गिर जाता है मुंह में किसी घुलते हुये कलाकंद सा सुख। किसी किताब के पन्ने से झांकता है शैतान दुष्ट, पकड़ लेता है बांहों में ढीठ दबंग प्रेमी कोई। मुन्दती है आंख, गर्म पानी के सोते में जाड़े की सर्द रात का हमाम.. . ऐसे सिर्फ़ ऐसे ही आता है, उफ़्फ़ ये कमबख़्त कमबख़्त सुख!

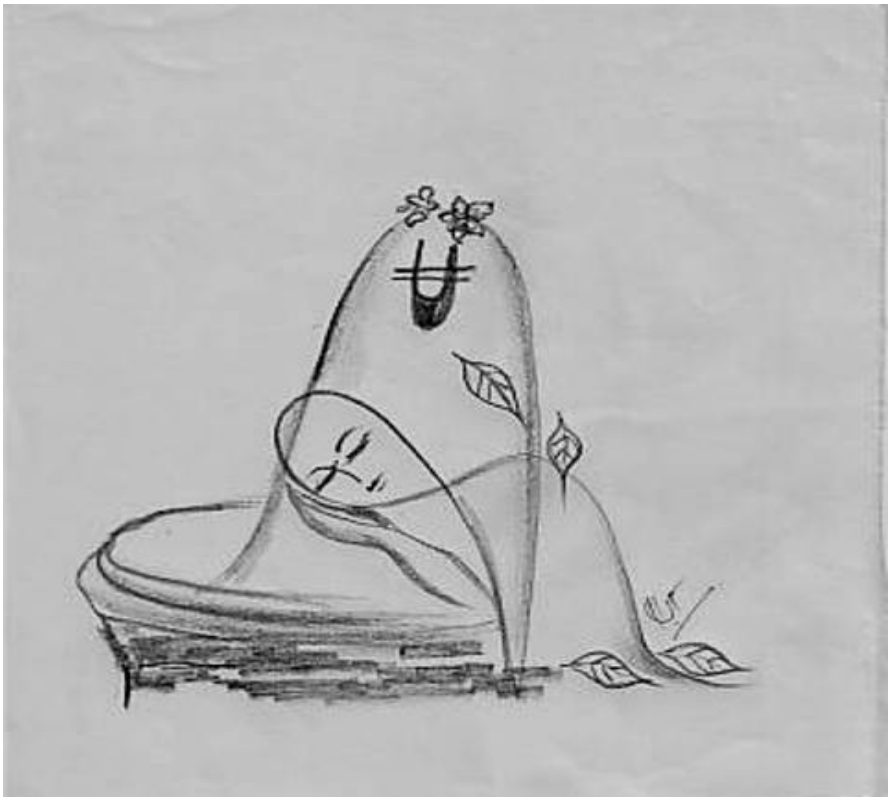

सपना था फिर कोई.... संगीत का कोई सुर था... अ म्यूज़िकल स्ट्रेन.... ऐसा जैसे सांस बजती हो अपनी सम्पूर्ण कोमलता में। पानी की सतह को हवा की उंगलियां छू भर दें... बस जैसे ज़िन्दा हों... बेसिक बेसिक। कलन्दर खाये कोई कलाबाज़ी, उछाल दे गेंद... तीन-चार-पांच हवा में और लोक ले बिना देखे, मुस्कुराते हुये स्वाभिमान से। काले घूमते तवे से उछल कर चकरघिन्नी कोई आवाज़ फंसे रेशे सी हर खरोंच पर किसी खर्राहट से गूंजे, ऐलान करे.... मैं कमला बाई झरिया। कितनी कैसी बचकानी वैसी ही मधुर और कुछ तीखा तुर्श। होंठों पर कासनी रंग... कोई मीठा स्वाद कहाँ। फिर फ़ुरसत से बैठें, पैर फैलाये, बदन सीधा करें, मन ढीला करें, आंखे मून्दें और सो जायें? बस ऐसे ही। पीछे गाती रहें कमला बाई, रसूलन बाई टप्पा ठुमरी, मोगरे के फूल महकते रहें गजरे! मुर्झाते रहें बासी बोसीदा, पानी पर पड़ी रहे कोई झिल्ली, याद करें थ्योरी सरफेस टेंशन की फिर बुहार दें आलस से बाहर, अभी नहीं कभी और... किसी और वक़्त में... टलता रहे टलता ही रहे हर फ़ैसला ग़लत सही... किसी और वक़्त में। पीछे से झम्म से कूदती जैसे दीवार से बिल्ली... आवाज़ सिर्फ़ आवाज़ जिसे पकड़ कर, जिसके सहारे मैं कूद आऊँ अंधेरे से रौशनी में... सपने से जागने में... टेक्नीकलर से ब्लैक एंड व्हाईट में... और जागकर सोचूं... क्या ऐसे आता है? ऐसे दिखता है क्लाईडोस्कोप के अंदर मल्टीपल? इतने सारे सुख?''

★★★

औरत कहती है मन की रेल पर ये जो तुम हसरतों की ऐसी मीठी, पगलायी लतरें बिछाये जाते हो, कुछ सूझता है मुझे कहाँ-कहाँ खींचे लिए जाते हो? यह समय है और कितना अच्छा है हम ज़िन्दा हैं, मगर फिर?

फिर क्या ? आदमी हंसता है चार वर्ष के बच्चे-सी निष्पाप हंसी। बेवकूफ, भूला हुआ कि किस भूले से आया है किस भटकन जायेगा, कि मोहब्बत की देह के हाड़-मांस नहीं होता, कि ख़्यालों के मीठन में संजोकर रोपे पौधे के ज़रा-सी हवा की कमी कितना तकलीफ देगी, मन मुंह को आयेगा, सांस खुद से छूटी-छूटी सी जाएगी। फिर क्या नहीं सोचता आदमी, सिर्फ़ बच्चे-सी हंसी हंसता है। बेवकूफ़।

औरत दूर तक देखे जाती और दूर तक सोचती दंग होती है। जब और सोचना दिल को डुबाने लगता है तो आदमी के ख़्यालों की महीन रेशोंवाली चटाई पर गिरकर ढेर होती है, अपनी खुशी में मीठे उदास, मदहोश होती, मानो वह हथेली पर दिये गए ज़रा-से समय को नहीं जी रही, ताउम्र ख़त्म न होने वाली शराब पी रही हो, और फिर अपने को वैसा बोलता सुनती जिस मिठास को हवा में महसूसती वह लगभग बेहोश हुई जाती हो, 'लो, मैं अपनी जिरह में तुमसे हारी, अब?'

आदमी सुरीलेपन के महीन तागों पर खुशियों की बहुत दूर तक उड़ाई पतंग की संगत में डूबा चला जाता, और फिर उसी तेज़ी से वापस लौटा आता, 'तुम बताओ!'

अपने में भूली हुई औरत जवाब नहीं देती, सिर्फ़ देखती देखे चली जाती, हवा में टटोलती हरफों का मजमून बनाती, धीमें-धीमें फिर बुदबुदाती, 'यह अनमने, असमंजस का हिसाब अच्छा नहीं ठीक-ठीक बता दो तुम्हारे बारे में कितना सोचें, कम सोचते हों ज्यादा कर दें और ज़्यादा हो रहा हो तो कम कर दें स्केल बाहर करो आज ठीक-ठीक हिसाब कर ही लें, दफ़्तर के समय की तरह तय वक्त़ शुरू करें और घड़ी देखकर तुम्हें दिमाग़ से उतार दें? दायें देखें तो तुमको और बस तुमको ही देखे जाएं ओर बायें भुला दें सब, ऐसा? सब्जियों पर से

छिलके की तरह हटा दें, किताबों में जो कहीं नज़र आओ मिटा दें। दूर तक सड़क पर बेसुध चलते चले जाएं और तुम्हारी हर बात को हवा में उड़ा दें। बोलो न, अकेले कितनी दूर निकल जाएं आगे फिर कहां ठहरकर सिरा पकड़ें, करें सोचना शुरू और कितना सोचें, निर्जन रात में कपाटों के बीच बंद कर दें सुबह के उजाले तुमको चादर ढंक दें। हंसते-हंसते सोचकर अन्यमनस्क उदासी में बदल दें, बीस शब्द सोचकर बाईस खारिज़ करें, बोलो न, कितना सोचें। किस रंग में सोचें और किस रंग में सोचने से बचकर निकल जाएं। सोच का हल्कापन बनाए रखें और इतना न ऊपर जाएं कि भार के नीचे दब जाएं, कितनी भाषाओं में पढ़ें तुमको और कितनों में भूल जाएं, बोलो, कितने शब्दों और कितनी सभ्यताओं में सोचें तुमको?

★★★

लड़की भीतर बहुत ही अकुलायी होगी जभी वह लगातार इस तरह बोले जाती थी। एक के बाद एक के एक इस और उस बात के सिलसिले, और ऐसा नहीं कि जयकांतन ने लड़की से जिज्ञासा की हो, या उसे इस तरह का कोई संकेत दिया हो कि उसकी अस्थिरता और उद्विग्नता से वह हैरत में हैं, लड़की ही थी जो बार-बार अपने होने में हैरान हो रही थी, मानो कभी एक सहज कौतुहल में तो कभी एक चोटखायी झुंझलाहट में स्वयं को पहचानने की कोशिश कर रही हो, और इस अस्थिर मनःस्थिति में जो उसके हाथ आता उससे वह और-और बेचैन होती, हाथ पटकती गुस्से में फुत्कारती वह ऐसी क्यों है कि उसके जीवन का कुछ भी उसके नियंत्रण में नही? इस बेकली और अवसाद ने उसे कहीं नही पहुंचाया फिर भी वह इससे हाथ झटककर अलग क्यों नहीं हो पाती? कभी हो पाएगी?

मालूम नहीं किस एक कमज़ोर मुस्कान मुस्कराकर जयकांतन कातरता से लड़की की दिशा में तकते रहे। हालांकि लड़की कभी अपने अवसादीलोक से अलग हो पाएगी के जवाब की अनिश्चितता के लिए वह नहीं लड़की जिम्मेदार थी, फिर भी कुछ था, रहा होगा, कि जयकांतन के मन का स्वाद कड़वा हुआ। शायद वह इस दिशाहीन गुस्से और बेमतलब की हंसियों में गुंथी लड़की के शनैः-शनैः एक उचाट, उदास औरत में बदलने के ख़्याल की कड़वाहट महसूस कर रहे थे। या शायद इससे भी कहीं इस बात की ज़्यादा कि अस्थिरता में दौड़ती लड़की ठहरकर अपने को पहचान सकने का सलीका सीख सकेगी, कभी? शायद। शायद नहीं।

अपने बाह्य, भौतिक पहचानी पहचानों के अनन्तर व्यक्ति अपने निज की सच्ची संगत में कहां जा रहा है, कैसे गीत गा रहा है कि पहचान ठीक-ठीक कभी कर पाता है? या उसके नज़दीक के उसके अंतरंग, हमदम इस खोज में उससे साझा कर पाते हैं? दोस्तों के साथ बितायी ऐसी शामों के कितने मौके होंगे जब किसी सहज क्षण जयकांतन के होंठों तक आया सवाल एक संकोच और असमंजस में वहाँ तक आकर भी फिर अटक गया होगा। संध्या जानती है उस जयकांतन को जो उसके नौ वर्षों की बेटी का पिता है, लेकिन उसे जानती है जो रहते-रहते अचानक अपनी शर्मिन्दगी में एकदम ख़ामोश हो जाता है, या सारी-सारी रात अकेला व्हिस्किीखोरी करता थिलोनियस मोंक को सुनता रहता है? बीवी आकर पूछे क्या बात है, किस बात का ग़म मन रहा है? तो लाल आंखों वाला आदमी सिर झुकाये चुपचाप बुदबुदाये, कुछ नहीं, संध्या। कुछ नहीं...

अकुलाहटों की भी कितनी किस्में हैं। जैसे प्यार की। अपने को पहचानने की। अपने आंतरिकता की भीतरी, बीहड़ यात्राओं की। सुदीपन बैनर्जी से सवाल करो कि अकुलाहटेर गुरु, किछु पेयछेन? सत्ती बोलबेन किंतु खोजछेन की?

ज़ाहिर है सुदीपन दा जवाब नहीं देंगे, जवाब की प्लेट पर राज़दारी की एक महीन, लापरवाह मुस्की धरेंगे।

हसरतें

होंगी बहुत सारी, कभी बर्फ़ की बरसात नहीं होगी जैसे स्निग्ध सितारों की आभा हमारी आत्माओं परझरे, सारी रात झरती रहे, खुले में नंगे पैर भागें वो सचमुच की चांदनी रात सी रात कब होगी, नहीं होगी दिखेगा जीवन नाखुश कुछ झुंझलाया-सा, अचक्के सामने पड़े पुराने गरीब दोस्त के मुंह चुराया-सा हंसना मिलना कमीज़ उतारकर चप्पल पहनना गिलास की शराब होगी, बातों के पिये का

सुरुर बने, आंखें खुशी में धंसीं चमकती रहें वो बातें नहीं होंगी, चमकीली थरथराती रेशमी

राते नहीं होंगी, जीवन होगा जैसे बटुली में ढंककर रखी बासी रोटी, गिरते-उठते बेमुरव्वत शब्द होंगे, एक भरपूर गाना नहीं होगा।

★★★

औरत देखेगी मन के फांक से, कितना गहरे देख सकती हूँ की झांक से, और फिर दिलटूटी आवाज़ में बुदबुदायेगी, 'मैं तुम्हारा भरोसा नहीं करती, इसलिए तुमसे नफ़रत करती हूँ, सुनो। और प्यार करती हूं इसलिए नफ़रत नहीं कर पाती!

गोद का बच्चा एकदम-से गिर पड़े की तरह आदमी सुनेगा, सिर्फ़ औरत की नफ़रत सुन सकेगा, अपनी नफ़रत में सिहरता कि वह मन के किस गांव बसता है जहां भरोसे की इतनी ज़रा-सी हरियाली नहीं? हर समय दिखता है पानी में डोलती पुरानी डोंगी और अपना तैरना, बहे चले जाना, फिर क्यों होता है कि साथ कहीं पहुंचना नहीं होता?

बांस के जंगल में एक अकेला बाघ विचरता है, अकुलाया, अपने बाघ होने से भय खाया। बचपन के कुछ किस्से याद आते हैं, कुछ लगता है उसके नहीं, जंगल की कहानियां हैं, घुटने पर पैर जमाये पीठ के बल लेटी गिलहरी उस मेरे की याद दिलाती है जब बाघ उसे साथ लिवा कर चकरी के चक्कर काटने गया था और बाद में गिलहरी ने कैसे उसकी उल्लू काटी थी जब कुएं में बाघ का उसकी परछाईं दिखाकर वह उसे ललकारती, उस गहरे लगभग गिराती छोड़ आई थी, याद आया, डॉन बेप्पे बाघानो? बाघ क्या करेगा एक बेचारी मनभली गिलहरी का, कातरता में अपनी बेढब मुस्कराता है। रात मन के सूने-हारों के अलग-अलग व॑द सजाती है। बाघ किसी बूढ़े बांस की पकी देह से माथा

लगाये वही पुराना सवाल एक बार फिर पूछता है जिसे अब सुस्ताती हवायें तक अनसुना किये जाती हैं, *'पुराने पुरोहित, बताओ, सचमुच वही हूं जो समझता हूं मैं हूं?'*

अपनी उलझन में बेसुध धुत्त आदमी बुदबुदाता है मालूम नहीं भरोसा किस चिड़िया का नाम, जिस गांव बसती है मैं उस गांव शायद कभी गया नहीं। या सपने में गया होऊं तो भरोसे से कभी मुलाकात नहीं हुई, मैंने देखा नहीं चेहरा, तुम्हारी नफ़रत का चेहरा दिखता है, भूखे होने की सी शर्मिंदगी होती है, भूख के बंजारे भूगोल पर तुम्हें एक सच्चा गाना गुनगुनाता मिला, ग़लती हुई?

औरत जुड़ी हथेलियों पर ठोढ़ी गड़ाये खुद को बताती है, 'एक गुमनाम शहर के बिसराये पुराने सिनेमाघर के अंधेरों में रुपहली छायाएं डोलती हैं, टॉर्च लिए एक बूढ़ा संतरी खोजता है अब हाथ न आने वाला ज़माना, पुराना, भूला, गाना...'

★★★

सबकुछ ख़ामोशी में धुत्त, नींद के गाढ़े में बेहोश पड़ा हो वैसे में अचक्के रंजु आंख खोले अंधेरा तकती सोचना शुरू करती है कि सुदीपन ने संध्या के सामने ऐसी बात क्यों कहीं। और कहीं तो उसके बारे में इतने घंटों बाद सोचते हुए मुझे ऐसा कष्ट क्यों हो रहा है? जानती है सुदीपन का उसके लिए कितना स्नेह है फिर भी संध्या की दिल्लगी में वह साझा हुए, उसे एकदम से कितना कष्ट होगा का ख़्याल उन्हें नहीं हुआ, चुप रहकर संध्या के कहे को स्थूल हो जाने देते, सोफ़े पर बैठे उनके कंधे से सिर टिकाकर रंजु के मन का भार हट जाता, संध्या का व्यंग्य उसके व्यक्तित्व के प्रहसन का प्रमाण बना रहता, वह हल्की सुदीपन की नंगी पीठ के रोओं से चेहरा सटाये नींद में वही रंजु बनी रहती जिसके कोमल, खिले साहचर्य में सुदीपन की हंसी को ऐसी सेंसुअस पुलक मिलती है, लेकिन अपने 'रंजुपने' से छिटकी हुई रंजु सो नहीं पाती, अन्यमनस्क बनी हुई है, थमी-थमी एक सुर में दबी हुई सुदीपन की सांसें बजती हैं, रोज़ के उस सुरीले की अभ्यस्त रंजु उस संगीत से बाहर ठिठकी हुई जैसे नींद में डूबे अपने अंतरंग से एक ख़ामोश ज़िरह छेड़े बैठी हो कि तक़लीफ में नहायी तुम्हारी दिलहारी रंजु तुमसे शिकायत कर रही है, मेरे अपने संदीपन तुम सुन रहे हो?

संदीपन के सिर के बाल, कंधे, कांखों के बाल सोये हुए हैं। दिन भर की बढ़ आई दाढ़ी के खूंट, हाथ की उंगलियां, पैर के नाखून सोये हुए हैं। जब रंजु ने तैंतीस पूरा किया था उस दिन के लिए छत्तीसगढ़ी हाट से खरीदकर लाया वह बेड-स्प्रेड भी आँखों पर अंधेरा ढांपे निश्चेष्ट निश्चल पड़ा है। फर्श पर करीने से प्लेस्ड दो जोड़ी स्लीपर्स, दीवार पर रंजु का उकेरा हुआ अपनी मां का उसके चोटभरे दिनों का एक ज़रा-सा बेढब चारकोल स्केच, सब पलके गिराये, अपने में चुपचाप।

जगी बेटी से दूर, बहुत दूर, एक छोटे कस्बाई शहर के साफ़ बरामदे और गेंदा और चमेली फूलों के अलसाये उनींदेपने के पड़ोस अपने ऊँघते पति के सिरहाने अधबीच नींद में उठी मां करवट बदलकर अस्थिर उठ बैठती है। परिचित अंधेरे के अभ्यस्त पैर बिना जतन खुद को चप्पल पहनाते हैं, उचटी नींद में घिसटते औरत के पीछे-पीछे रसोई तक जाते हैं, औरत रसोई की बत्ती जलाकर जानती है जब सोयी थी तब था, मगर अभी बिजली नहीं है। पति की ऊँघाई में व्यवधान आता है। रसोई के अंधेरे में पीतल का उल्टा लोटा टटोलती औरत सुन रही है पति उठकर नाक पोंछता असमंजस में समझने की कोशिश कर रहा है उचटी नींद की असल वजह क्या होगी, और घर में बिजली के न होने का ध्यान उसे अभी कुछ हौल के चौंकन्नेपन के बाद आएगा, और इससे पहले कि वह औरत से सवाल करे, लोटे से दो घूंट पानी पीकर औरत खुद जवाब देगी, 'कुछ नहीं हुआ, बिजली गई है। पानी पियोगे?'

आदमी अस्पष्ट सा कुछ बुदबुदायेगा। औरत हाथ में पानी का लोटा लिये कमरे में वापस लौटेगी, जानती कि अंधेरे के होश में लौटकर पति पानी नहीं पियेगा, चाय की एक कातर, भोली-सी गुहार करेगा, औरत चिढ़कर उसे देखेगी, बिछौने उसके बाजू सहारे के लिए बैठेगी, उभरी नसों वाले उसके भारी, रुखे पैर पर हाथ रखकर कहेगी, 'अभी एक सपना देख रही थी, रंजु के बारे में!

आदमी कुछ देर बाद चौंककर औरत की ओर देखेगा, जैसे उनकी बेटी नहीं जाने किस अजनबी की बात हुई हो, या मानो वही अजनबी हों और अपने पहचाने के अचानक के इस सामना से पल भर को ठिठक गए, खुदी को खोजने लगे हों...

★★★

गाढ़ी रातों में आदमी की तरह कहीं बहुत दूर अपने में कुछ ढूंढ़ता बाहर जाता है, मछुआरे के जाल-सा गहरे कहीं उतरा डूबा हुआ, ख़ामोश। रात की परछाइयां पानी में 'गुडप' डोलती हैं, ऊपर आती हैं। सोयी मछलियों के सिलसिले किस दावत की किस अफ़ीम ने हमको हमारी मोहब्बत में ऐसा नाकार बना दिया! की बेकली का गाना फुसफुसाते हैं अपने सपनों, सोये जल का नील छांह-नहाया आंगन सजाते हैं। आदमी मंत्रमुग्ध इंतज़ार करता है।

औरत की साड़ी के किसी कोर खंसा होता है कहीं अनदिखता वह ज़रा-सा इंतज़ार। काम की मेज़ पर झुकी वह काम, काम लिखे जाती है, फिर सिर पर हाथ धरे पढ़ती तो पढ़ा जाता इंतज़ार.. औरत को अच्छा नहीं लगता इस तरह अपने काम में जिये जाना, जीने में जाने वह क्या है किसलिए है के इंतज़ार को अपने से बारहा हटाते, अपने में फिर-फिर वही गुंथा पाना। हाथ से लगकर दवात उछलता है, नीली सियाही आंख के भौं और हाथ की उंगलियों को नीला कर जाती है। औरत थककर बटुआ उठाती है।

रात की पीठ पर आदमी एक के बाद एक जाने कितने अनप्रोसेस्ड सूत्र टीपता चलेगा, उमगता औरत को बताता, इतने सारे संगीत के बीच खड़ा क्यों भूलता रहता बार-बार मैं अपना तरन्नुम, इस भूले में तुम मुझे कहां छोड़े जाती हो? औरत लंबी सांस लेगी, चुप रहकर कहेगी भागते रहते हो हर वक़्त, दिखता है मेरा संगीत कहां मुंहछुपाये खड़ा है, कभी उसे पास बुलाते हो? अंजुरियों की कोमलता में थामें

उनको नेह में नहलाते?.फीकी मुस्कराहट में लिपटी औरत कांपते सुर धीमे संभल कर अपने शब्द सजायेगी, 'सच जानो, सब समय चाहती हूं तुम तरन्नुम में रहो, हमारा भला हो, और फिर सब समय पाती हूं कि मेरे बोलने में गाना खराब होता है, कब तुम्हारे काम आती हूं? तुम हर वक़्त टांगे रहते हो गले में हारमोनियम मैं एक ज़रा-सी बांसुरी तक कहां उठा पाती हूं? दिखता नहीं तुम्हें? इतने सारे संगीत के बीच कहीं दिखती हूं मैं?

★★★

तुम कहोगी...

(1) तुम हुमसकर नज़दीक जाओगी, पूछोगी पूछना चाहती हूं कुछ, पूछ सकती हूं। मैं हंसता माथे के पीछे हाथ बांधकर कहूंगा पूछो-पूछो। तुम कहोगी छोड़ो, जाने दो, मेरे मन की बात है, तुम कहोगे कहां-कहां से खोदकर बात लाती है, बेवजह सिर खाती है। मैं चेहरे पर मचलने का बच्चों-सी मासूमियत चढ़ाऊँगा अरे, यह कौन बात हुई, बात उठाकर दबाती हो, उठाया है तो अब निपटा ही डालो, चलो, पता नहीं क्या वहम है अंदर बाहर निकालो। तुम कहोगी खामख़्वाह बुरा मान जाऊँगा, बैठे-बिठाये बेमतलब का झंझट, गुम्मा मुंह फुलाऊँगा, मैं करवट बदलकर बुरा मानने का चेहरा बनाऊंगा कि बकोगी भी कि बस लच्छे बुनती रहोगी। तुम कहोगी ठीक है, नज़दीक आओ, एक बात बताओ.. अब भी तुम्हारे अंतर्तम को मुझसे रोशनी मिलती है? कितनी मिलती है, अब भी बचा है तुम्हारी बेचैनियों में मेरा 'मिस्टीक' कितना बचा है, बताओ न! मैं कसम खाकर, तुमसे ज़्यादा खुद से नज़रें बचाकर कहूंगा- क्या?

(2) कितनी बार कितनी-कितनी बार हम फिर उसी अंधेरे में आकर खड़े होंगे जिससे बाहर निकलने को हम मिले थे इन द फ़र्स्ट प्लेस। तुम हारकर कहोगी इतना अंधेरा क्यों है, मैं जाने किस घिसी बौद्धिकता में दोहराऊंगा कहां जायेगा इसी में तो बड़े हुए हैं, नींद से बाहर और खिड़कियों के परदों पर डोलता रहता है, असल बात यह नहीं कि अंधेरा है। असल बात है तुम उस अंधेरे में कैसे अपनी रोशनी तैयार करती हो, कितना समझती हो कहां दबी-छुपी है तुम्हारी ताकत, अपनी बैटरी चार्ज करती हो। तुम कहोगी थक जाती हूं हर बात में तुम्हारी बुद्धि सुनकर, कभी कुछ और सुना नहीं सकते, मेरे हिस्से की थोड़ी बैटरी जला नहीं सकते? मैं अपनी दुलरायी, ज़ंगखायी बुद्धिमानी में हंसने लगूंगा। तुम्हारी खाली आंखें और अपनी हंसी की बेहुदगी देख किसी दिन क्या मालूम शायद उसी क्षण खुद से डरने भी लगूंगा। अंधेरा कहीं नहीं जायेगा और हम दो कमज़ोर जान आख़िर इतने बड़े अंधेरे का क्या बिगाड़ लेंगे। कुछ नहीं बिगाड़ेंगे, कहीं कुछ नहीं बदलेगा, बस धीमे-धीमे अंधेरे में ज़रा आगे तक हम साथ चलेंगे।

आदमी के हैरत से परेशान होती बेटी का सपना देखने वाली औरत ने ख़्याल करके पति के रूखे पैर सहलाते हुए सवाल किया, 'क्या बात है? पैर में फिर झन्-झन् हो रहा है? दबा दूं? और बिना जवाब पाये औरत आदमी के पैर दाबने लगी। आदमी को अच्छा लगता है तकलीफ़ घने पैरों पर इस तरह के स्नेह भरे हाथों का फिराव पाना, लेकिन जाने मन के संकोच का कैसा बंधाव है, पैर पीछे खींचकर बुदबुदाते हैं, 'रंजु के बारे में क्या सपना देख रही थी?'

औरत का चेहरा एकदम खिल जाता है। पति के खिंचे पैर को वापस अपने दायित्व और मोहब्बत की गिरफ़्त में लेकर अपने को जताना शुरू करती है कि अभी भी इन बूढ़ी हड्डियों में कितनी ताकत है।

जयकांतन सपना देख रहा है। कभी बहुत पहले बचपन में की गई यात्रा और जंगलों में भटकने के गड्ड-मड्ड होते बिम्ब हैं। आस-पास से आती कुछ पहचानी हंसियां हैं लेकिन कौन हैं और किस बात पर हंस रहे हैं इसका भेद नहीं साफ़ हो रहा। जबकि जंगलों में खो जाने की घबराहट हो रही है, साथ ही उस घबराहट का एक दबा-दबा रोमांच भी हो रहा है। अजब दबे रंगों की रहस्यकारी परछाइयां बन रही, फैल रही हैं। उस मटमैले अंधेरे के जादू में सूखे, घबराये हलक जयकांतन डूबा जाता है, और इसके पहले कि हंसी की सारी आवाज़ें एकदम से गायब हो जायें, जंगल का भेदभरा धुंधलका उसके स्वत्व को पूरी तरह लील जाये, तमिल में चीख़ती एक फ़ेमिनीन आवाज़ उसे उबार लेती है, सपने में जयकांतन एक साथ खुशी और घबराहट में पलटकर आवाज़ का हाथ थामता है, कौन है, दीदी है? एकदम चेहरे पर झुकी फिर दिखता है संध्या है।

सपने से बाहर जयकांतन की आंख खुलती है तो दिखता है अभी भी सपने में ही हैं। मटमैले सपने को अब ज़रा रंगीनी मिल गई है, मालूम नहीं दुनिया के नक्शे का कौन अनजाना देश है, उस देश के जाने किस अनजाने शहर के किसी सस्ते कॉफ़ीघर की सस्ती मेज़ पर सामने हाथ बांधे मुस्कराती संध्या बैठी है और उससे नज़र मिलते ही सवाल करती है, 'तुम खुश हो?' जयकांतन संध्या का हाथ उठाकर उसे अपने हाथों के बीच दबाये दुलराने लगता है, संध्या छोटी बच्ची की तरह खुश-खुश उस रसभीजे चेहरे को तकती रहती है। दीवानगी में सपना 'वक़्त' के आशा भोंसले का 'आगे भी जाने ना तू, पीछे भी...' का किसी अनजानी ज़बान का वैरियेशन गुनगुनाये जाता है...

संदीपन के सपने में औरतें मसाला कूट रही हैं, केले के पत्तलों पर भात परसा जा रहा है। औरते ही औरतें, बच्चों की धमाचौकड़ी, सफ़ेद, लाल, पीले रंगों का धालमेल। बड़ी कड़ाही में टीने से सरसों का तेल पलटा जा रहा है। माथे पर चंदन की बिन्दियां लगाये नंगे बदन धोती में खड़ा एक लड़का रुंआसा हो रहा है। कोई लड़की छत से जाने किसके लिए आवाज़ लगा रही है। पल्लु के छोर से गरम दूध का भगौना लिये आई फुकन की मासी मां

पूछ रही हैं किसके बच्चे को दूध चाहिए था? जाने कहाँ-कहाँ की कैसी खुशबूएं उड़ी आती नींद में संदीपन को विचलित कर रही हैं, भरे-पूरे घर की जगर-मगर भीड़ में यह किसकी उपस्थिति की खुशबू है जो वह अपनी सहज प्रसन्नता से अंजाने विगलित हो रहा है? संदीपन भारी सांस खींचे सोचता है और उसकी आंख खुल जाती है। इसका उसे कुछ देर बाद, रंजु के विरोध से, एहसास होता है कि वह उसके गरदन से मुंह सटाये जाने वहां क्या खोज रहा है, और रंजु उसे रोक रही है।

'हटो, अभी ये सब करने की ज़रूरत नहीं है।'

'हूं।'

'सुना तुमने मैं क्या कह रही हूं? छोड़ो मुझे।'

'हूं।'

'अभी लाकर लोटा भर पानी गिरा दूंगी सिर पे फिर देखोगे।'

'हूं।'

★★★

प्यार, शब्द दो-चार, किस काम के, दाम के..

काश मेरे शब्द तुम्हारे फटियारे दिनों का कपड़ा हो पाते। भूख में कुम्हलाये, पपड़ाये होंठों पर रंगों नहाये, कुछ ओह, नारंगी बहार बनते, मन के गहरों में उमगमी, कहाँ-कहाँ तक तो उतर गयी, सारंगी सितार बनते। इतना तो इतना संगीत लरजता कि छींट के मलिनियाये सूती परदे पर मुरझाये नीले फूल की पंखुड़ियाँ थिहरने, कांपने लगतीं, बरामदे के मुहाने पर रखे लोहे के जाले में कांसे की कटोरी नम आंखें अपनी ढांपने लगती। मेरे शब्द तुम्हारे दुःखियारे दिनों के अकेले सुनसान की सुकूनदेह सड़क, रिक्शे की उठंगी फैली सवारी, मुश्किल दिनों में अखबार के नीचे जाने कब दबाकर रखी और अब अचानक पा लिये थोड़े रुपये और ओह, कैसे तो आह्लादकारी रेजगारी होते। निकलते घनी बारिश के बाद के आसमान की तरह, फड़फड़ाते नन्हें परों को गरदन के नर्म रोंयें सहलाते काश मेरे शब्द तुम्हें टहल घुमाने निकलते, पूरे रास्ते तुम ठिहलतीं, नये पत्तों की मानिंद फुनगतीं, ओह, कित्ता कित्ता कित्ता कित्ता सारा तो हंसती चलतीं। काश।

औरत कहती है मैं कभी तुम्हें दुःख देने का सबब नहीं बनना चाहती, मगर मान लो ऐसा मौका बना कि तुम्हें तक़लीफ़ हुई, तब? मेरे बाबत ग़लत फ़ैसला सुनाओगे? अपनी नज़रों मुझे नीचे गिराओगे? आदमी देखता रहता औरत की तरफ़, चुपचाप सुनता। औरत के रोओं, पैर के नाखूनों पर एक खुशी की लकीर खिंची जाती कि वह देखती किस मुहब्बत से देखता है उसे आदमी, मगर फिर यह सोचकर दिल भारी होने लगता कि मन में इतने सारे फूल खिलते हैं, हमेशा वह करीने से सजाया बागान नहीं होता, और जब नहीं होता तो उस जंगली-वन में जाकर वह भूल जाती है कि वह कौन है, हसरतों के पहाड़ पर क्या खोजने आई है, तब?

आदमी देखता है औरत पास बैठी है, मगर उसके साथ नहीं है। उसके केश, उसकी उंगलियां पहुंच की ज़द में हैं लेकिन उसका होना ख़यालों के किसी और समय में, भाषा की किसी अपहचानी लिपि में सामने खुला हुआ है। मानों रेल के एक ही डिब्बे में आमने-सामने बैठे हो लेकिन उनके मन के स्टेशनों की लम्बी दूरियां हों, उन फ़ासलों में जाने कितने जंगलों, पहाड़ों का भराव हो? आदमी असमंजस की बड़ी तक़लीफ़ में है, मगर झाड़-पोंछकर खुद को बुहारता है, मुस्कराकर कहता है, 'तुम्हें नज़रों से गिराकर फिर मेरे खड़े होने की कोई कहीं जगह होगी?'

आदमी कहता है सिर्फ़ इतना जानता हूं कि कितने भी दूर निकल जाऊं, लम्बे सफ़र से लौटा आऊं, तो उम्मीदों से बंधी उस ज़रा सी पोटली के साथ लौटना, तुम्हारे पास ही लौटना होगा। और मुझे मेरे गाते में, और रोते में, सुनोगी तो इसीलिए कि तुम्हीं को सुना रहा होऊंगा, तुमसे अलग तो ठीके-ठीक मैं खुद से ककहरा भी न कहला पाऊंगा, समझती हो?

★★★

आदमी शहर और अपने गहरे में उदासीन, आवारा, निस्संग घूमता खुद से हारकर ज़िरह करता कि वह इतना आसान है, फिर मन इतना मुश्किल क्यों?

मन के एक-दूसरे रेल पर सवार औरत आदमी के नज़दीक आकर बुदबुदाती, 'तुम जानते तुम इतने आसान नहीं, फिर कितना तो सब आसान हो जाता! और बेआवाज़ गुज़र जाती।

घर की दीवारों पर, पुरानी तस्वीरों के माढ़े, नये तकिये के गाढ़े में आदमी औरत के होने की तस्दीक करता, कानों में फुसफुसाहट पड़ती, 'मैं यही हूं!' कातरता में लजाया आदमी सवाल करता फिर वह कौन थी जिसे मैंने गुज़रती रेल में देखा?...

आदमी घबराकर फिर देर तक बताता होता कि वह फंस गया, उलझ गया है, औरत बताती कि नहीं, दरअसल वह आसान हो रहा है। आदमी कहता किसी भी क्षण रोने लगूंगा, फिर देखोगी? औरत हंसती कहती तुम अभी-अभी हंसोगे, मैं देख रही हूं..

● ● ●

कहानी

हक़

रवि अग्निहोत्री

दिसम्बर माह की अच्छी-खासी ठंड थी। राहत की बात यह थी कि खूब खिली और ठहरी हुई धूप पूरे शहर पर किसी सुखद विज्ञप्ति की तरह छाई हुई थी। इसलिये सर्दी का एहसास ज़्यादा न था।

आज पापा ने प्रोग्राम बनाया। मुझसे बोले कि स्कूटर निकालो, नैना यानी मेरी आठ वर्षीया बेटी, को आगे बैठालो और मोतीझील चलो।

मोतीझील के जापानी गार्डेन में पहुंच कर पिता जी नैना के साथ खेलने लगे। यह शहर का अकेला पार्क है जहां मन टिकता है। छोटे-छोटे पहाड़ीनुमा लयबद्ध टीले, झील, उसमें नौका-विहार, जूते और हाथी की सूंड़ के आकार के फिसलने वाले झूले, मशीन से कटी हुई पूरे पार्क की घास और मौसम के सभी फूल-पौधे। आगे-आगे नैना, पीछे-पीछे पापा। बैठे हुए हाथी की सूंड़ वाला झूला काफी नीचा है। पापा उसमें ऊपर पहुंच कर नीचे फिसलने लगे। उन्हें ऐसा करते देख मैं भी जोश में आ गया। मैं भी झूला झूलने लगा। सत्तर के पापा, पैंतालिस का मैं और आठ साल की नैना। तीन पीढ़ियां इस पार्क में झूला झूल रही थी, दुनियां से बेख़बर खुश थीं। मेरी नज़र में यह बेहद खुशनुमा नजारा था।

दिन के ग्यारह बजे थे, इसलिये अभी इस पार्क में कम लोग ही थे। पार्क के हरे-भरे एक टीले पर पापा लेट गए और सुस्ताने तथा धूप लेने लगे। करीब दो घंटे इस तरह गुजारने के बाद पापा ने गंगा बैराज चलने की इच्छा जाहिर की।

गंगा बैराज वहां से लगभग तीन किलोमीटर दूर है। गंगा का चौड़ा पाट देख कर पापा निहाल हो गए। पुल के ऊपर खड़े होकर बड़ी देर तक वे पानी की तेज़ धार, उसमें हिचकोले लेती नावें और मछलियां पकड़ते मछुवारों को देखते रहे। फिर एक कप आईसक्रीम खरीदी। आधा कप नैना को खिलाया और उसके बाद बची हुई आधा कप आइसक्रीम खुद खाई। उन्हें इस बात का अफ़सोस था कि गंगा बैराज बने हुए बीस वर्ष हो गए हैं, लेकिन वे अभी तक इसे देखने नहीं आए।

इतना सब घूमने और मस्ती करने के बाद हम सब शाम होने से पहले घर लौट आए। आज पापा बहुत खुश थे।

ऊपर जो कुछ भी बताया गया है, वह सब मन-गढ़न्त है। दरअसल यह वह कल्पना है जो मेरे मन में हमेशा से रही है। मैं चाहता हूं कि पापा ऐसे ही खुश रहा करें। लेकिन सच्चाई यह है कि पापा प्रसन्न नहीं रहते। वे कभी कहीं नहीं जाते। वे घर

25 जून 1964 को जन्में युवा लेखक 'रवि अग्निहोत्री' अपने आदर्शवादी जीवन मूल्यों के साथ इक्कीसवी सदी के यथार्थ से मुठभेड़ करने का हौसला लेकर कहानी के रणक्षेत्र में उतरें हैं। अभी तक विभिन्न पत्र- पत्रिकाओं कुछ कहानियाँ व कविताएँ प्रकाशित। जीवनयापन हेतु रक्षा प्रतिष्ठान में नौकरी।
सम्पर्क : 110-डी०, बर्रा-2 कानपुर (उ०प्र०)
मोबाइल : 09838979143

में अपने कमरे में ही रहते हैं। उन्होंने अपना कमरा भी बदल लिया है। पहले घर का डाइनिंग-रूम ही उनका अपना कमरा था, लेकिन मेरे वापस आने के बाद छत पर जाने वाली सीढ़ियों के ख़त्म होते ही जो भंडरिया है, उसे ही उन्होंने अपना कमरा बना लिया है। एक तख्त, अलमारी में कुछ धार्मिक किताबें, दवाइयां और मम्मी की फोटो। बस इतना सा ही सामान है उस कमरे में। पापा के कमरे से हमेशा अगरबत्ती की महक आती रहती है। कई बार कहा कि पापा उस कमरे को छोड़ कर पहले वाले कमरे में ही रहिये, रात को लघुशंका वगैरह के लिये सीढ़ियां उतरने में आपको परेशानी होती है। इतने बड़े घर में जगह की कमी तो है नहीं, लेकिन पापा नहीं सुनते। वे उदास रहते हैं। पूछने पर उदासी का कोई कारण भी नहीं बताते।

पापा हमेशा से ऐसे नहीं थे। वे ''डामिनेटिंग-पर्सनालिटी'' के व्यक्ति रहे हैं। लम्बा-चौड़ा शरीर। लालिमा लिये हुए गोरा रंग। घर पर नाते-रिश्तेदारों में और साथियों के बीच उनकी बात की, उनकी सलाह की अहमियत रही है। वे हमेशा निर्णय लेने की हैसियत में ही रहे हैं, लेकिन पिछले साल मम्मी के देहान्त के बाद से ही वे मुरझा से गए हैं। मम्मी के देहान्त के बाद कुछ घटनाएं इस तरह की हुईं कि पापा का आत्मविश्वास हिल सा गया। अब कोई निर्णय वे नहीं लेते। लेकिन घर में उनकी मर्जी के ख़िलाफ़ कोई काम हो तो उनकी नाराज़गी उनके बर्ताव में झलकती है। जैसे चाय लेने से इंकार कर देंगे या भोजन के लिये पूछने पर कहेंगे, ''खा लेंगे जब मर्ज़ी होगी।''

पापा के मन की बात समझने के लिए सिलसिला करीब दो साल पहले से शुरू होता है। मैं आफिस में था। वहां फोन पहुंचा कि मम्मी की तबियत ज़्यादा खराब हो गई है। तुरन्त आ जाओ। मैं तुरन्त घर के लिये भागा। रास्ते भर तरह-तरह के अशुभ ख़्याल आते रहे। अभी पन्द्रह दिन पहले ही तो अस्पताल से छुट्टी मिली

थी उनको। हृदय के दो वाल्व बुरी तरह खराब हो गए थे। डाक्टरों ने उनकी शारीरिक कमजोरी को देखते हुए आपरेशन करने से भी इंकार कर दिया था।

रास्ते में मैं स्कूटर चला रहा था लेकिन आंखें डबडबाई हुई थीं। हालांकि अभी मुझे यह पता नहीं था कि मां की हालत कितनी गंभीर है। दरअसल मां व्यक्ति नहीं होती। मां व्यक्ति को रचती है। मां एक भाववाचक संज्ञा होती है। मां की बात आते ही हर व्यक्ति भावुक हो उठता है। मां के मामले में दिमाग़ नहीं, दिल काम करने लगता है। मैं भी भावुकता में था।

घर पहुंचते ही बात साफ हो गई। मां अब इस दुनियां में नहीं थीं। खैर मां की म त्यु के बाद पापा ने सभी क्रिया-कर्म पूरे किये। तेहरवीं के ठीक दूसरे दिन सब लोग साथ ही बैठे थे। सब लोग मतलब पापा, तीनों बहनें, मैं और पत्नी। सभी पापा को घेर कर बैठे थे। रात के करीब आठ बजे थे। मम्मी के सम्बन्ध में ही बातें हो रही थीं। मम्मी ऐसी थीं, मम्मी वैसी थीं, मम्मी ये कहा करती थीं, मम्मी वो कहा करती थीं इत्यादि। अचानक बीच वाली बहन ने बात उठा दी, ''पापा घर का हिसाब कर दो, छुटकी को परेशानी भी है।'

पापा हिसाब की बात सुन कर चौंक गए, 'हिसाब। कौन सा हिसाब?'

''पापा, हम लोगों का घर में कोई हिस्सा नहीं बनता है क्या?'' बड़ी दीदी बोली थीं।

''पापा छत पर मेरे लिये दो कमरे बनवा दो।'' छोटी ने अपनी बात कही थी।

''तो तुम तीनों पिछले तेरह दिन से यही योजना बनाती रही हो।.... शादी-व्याह कर दिया है तुम लोगों का। अपने-अपने घर में सुखी हो, तो यहां किस बात का हिस्सा?''

बहनें अपनी बात कहती रहीं कि मकान में उनका भी हिस्सा बनता है। अब मम्मी के न रहने के बाद यहां उतना आना-जाना हो नहीं पायेगा। क्योंकि भाभी से हम लोगों की बनती नहीं है। फिर छुटकी के लिये तो मम्मी ही कहा करती थीं कि आधा मकान उसका है क्योंकि वह ससुराल से कमजोर है।

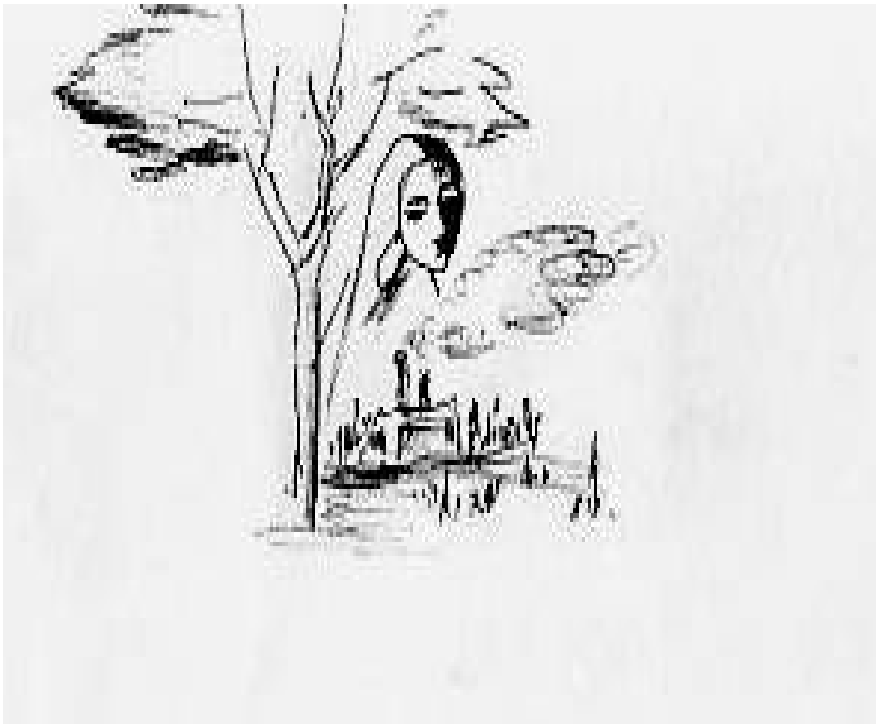

पापा मकान में किसी भी तरह बहनों की हिस्सेदारी स्वीकार करने के पक्ष में नहीं थे और बहनें अपने हक़ के लिये अडिग थीं। अगले कई दिनों तक घर में यही माहौल रहा। पूरा घर तनाव में था। पूरे घर में तने हुए धागे थे जो जरा से तनाव पर टूट जाते थे। इस टूटन की आवाज़ घर से बाहर मोहल्ले में भी गई। पूरे मोहल्ले को पता था कि इनके घर में क्या चल रहा है? मोहल्ले में सुगबुगाहट इसलिये ज़्यादा थी कि लड़कियों ने हिस्सा मांगा था। ऐसा कहां सुना जाता है? लड़के तो अपने हिस्से के लिये बाप-भाई से लड़ते-झगड़ते पाये जाते हैं, लेकिन लड़कियां! पहली बार ऐसा देखा और सुना जा रहा है। एक बार नहीं, दो बार नहीं, पूरे तीन बार ऐसा हुआ कि कभी दिन में तो कभी रात में पापा घर छोड़ कर चले गए और मामा के घर में रहे। घर में अजीब सा माहौल था। खाना-पीना सब दुश्वार था। बहनों के ताने आख़िरकार मेरे ऊपर भी आने लगे, ''तुम्हारी वजह से ही पापा हमारे हक़ को मार रहे हैं। तुमने हमेशा अपनी बीवी का पक्ष लिया है। कभी हम लोगों के बारे में नहीं सोचा है। हम भी इसी घर में पले हैं। जैसे तुमने जन्म लिया है वैसे ही हमने भी मम्मी की कोख से जन्म लिया है। फिर तुम्हारा इस घर में हक़ है, हमारा कैसे नहीं है?''

''जीजी, मैं तुम्हारे लोगों के ही पक्ष में हूं, लेकिन पापा नहीं चाहते तो मैं क्या करूं? मकान पापा के नाम है मेरे नहीं।''

''पापा की आड़ में तुम अपना मकसद साध रहे हो, आख़िर हमारे भी बाल बच्चे हैं। हम कोई धन्ना सेठ तो हैं नहीं, क्यों अपना हक़ छोड़ दें?''

बहनों को यही लगता कि मैं पापा को उनके खिलाफ़ भड़का रहा हूं। मैंने पापा को समझाने की कोशिश भी की, ''पापा, ये लोग कुछ गलत नहीं कह रही हैं। अगर आप मेरे बारे में सोच रहे हैं तो मुझे इतना बड़ा मकान ले कर क्या करना है? ले-दे कर एक लड़की है। मेरी सरकारी नौकरी में इसकी पढ़ाई-लिखाई और शादी-ब्याह सब कुछ हो जायेगा। आप यह मकान बेच दीजिये। सबको सबका हिस्सा दे दीजिये। हमारे और आपके हिस्से को जोड़कर और कुछ लोन लेकर एक छोटा सा रहने भर का मकान मिल ही जायेगा।''

लेकिन बहनों को हिस्सा देने के मामले में पापा तनिक भी रियायत करने के मूड में नहीं थे। उन्हें यह बात समझ में ही नहीं

आती थी कि शादी-ब्याह के बाद मायके में लड़कियों का क्या हक़ हो सकता है? वे कहते थे कि आख़िर ससुराल में भी तो लड़कियों का हिस्सा होता है तो फिर मायके में लड़कियों को हिस्सा क्यों मिले? अगर मायके में भी हिस्सा मिलेगा तो उनके दो हिस्से नहीं हो जायेंगे। अब पापा को यह कौन समझाता कि ससुराल का हिस्सा पति का होता है, लड़कियों का नहीं। लड़कियां उसका मनचाहा इस्तेमाल नहीं कर सकती हैं। और पति की म त्यु के बाद उस हिस्से पर उसके ही भाई-भतीजे हक़ जताने लगते हैं इस तरह मायके में मिला हिस्सा ही उसकी सुरक्षा की गारण्टी होता है।

घर में तनाव बढ़ता ही जा रहा था। रोज़ बैठकें होतीं। रोज़ पापा घर छोड़कर चले जाते। कभी मामा के यहां रात गुजारते, कभी किसी और रिश्तेदार के यहां। फिर मामा और अन्य रिश्तेदार भी घर आते। बहनों पर सभी लानत भेजते कि कभी ऐसा हुआ है कि बहन-बेटियां भी मायके में अपना हिस्सा मांगे। जो पिता ने हाथ उठा कर दे दिया बस उसी में संतोष करना चाहिए।

प्रतिदिन माहौल बिगड़ता जा रहा था। बहस-मुबाहिसों में मम्मी की चर्चा आती। अकेले में नैना मुझसे पूछती, ''पापा, दादी जी कहां चली गईं हैं? मरना क्या होता है? क्या एक दिन आप भी मर जाओगे? मां भी मर जायेगी? मैं भी मर जाऊंगी? बुआ जी लोग आपको गालियां क्यों देती हैं?'' अपनी इकलौती संतान के ये सवाल सुनकर मेरा कलेजा फट जाता। जब वो अपने मरने की बाद कहती तो मन भड़भड़ा उठता। आजकल वह कुछ अपशब्द भी इस्तेमाल करने लगी थी जो पापा और बहनें बहसों के दरमियान आपस में इस्तेमाल करते थे। मुझे लग रहा था कि नैना कि ऊपर इन सब बातों का गलत असर पड़ रहा है।

मैंने पापा से बात की, ''पापा, जिज्जी लोगों का हिस्सा देने की कुछ व्यवस्था करिये। घर के माहौल का नैना पर गलत असर पड़ रहा है। कल पूछ रही थी कि दादी की तरह वह भी मर जाएगी।... आखिर ऐसे कब तक चलेगा?''

''क्या फैसला करें हम? मकान बेंच दें! एक-एक पैसा जोड़कर बनवाया है। तुम्हारी मां ने और मैंने अपने हाथों से ईंटें उठा-उठा कर इस मकान में लगाई हैं। मकान बेच कर जीते जी हम अपने हाथ तो कटवा नहीं लेंगे।''

''इस माहौल में नैना की बोली-भाषा, सोच समझ सब खराब होती जा रही हैं। आप मुझे इजाज़त दीजिये कि मैं बाहर कहीं किराये पर रहूं जा करके। जब माहौल सही हो जाये, तब बताइयेगा मैं आ जाऊंगा। वैसे भी जिज्जी मेरे बोलने पर और ज्यादा भड़क उठती हैं। वे समझती हैं कि आप मेरे मोह की वजह से ही उन लोगों को मकान में हिस्सा नहीं दे रहे हैं।''

उस दिन पापा ने माथा थाम लिया। मां को सम्बोधित करके कहने लगे, ''तुम्हें गए हुए अभी एक महीना ही हुआ है। लड़का घर छोड़ कर जाने की बात कर रहा है। लड़कियां अपना हिस्सा मांग रहीं हैं। मेरे जैसा अभागा और कौन होगा?'' वे हिचकियां लेने लगे।

पापा रो रहे थे। मेरा कलेजा मुंह को आ रहा था लेकिन मुझे और कोई रास्ता नहीं सूझा। मुझे लगा कि मुझसे पिता जी का मोह भंग हो तो शायद वे बहनों को हिस्सा देने की बात सोचें।

''ठीक है, तुम्हें समस्या का यही हल समझ में आता है तो जो मन हो करो।'' उन्होंने कहा।

अगले दो दिनों में मैंने किराये पर कमरा देखा और एक लोडर लाकर अपना सामान उस कमरे में शिफ्ट कर लिया। यह कमरा घर से लगभग दो किलोमीटर की दूरी पर था। पूरे मोहल्ले ने देखा कि इकलौता लड़का घर छोड़कर जा रहा है। लेकिन मुझे, इसकी चिन्ता नहीं थी। पिता जी स्वयं को अपमानित महसूस कर रहे थे। वे मेरे जाते वक्त घर से बाहर नहीं आए। बहनें भी घर के अन्दर ही रहीं। मेरी चिन्ता नैना पर पड़ते गलत असर को लेकर तो थी ही, बल्कि इस तरह मैं पिता जी का अपने से मोहभंग करना चाहता था। यह मेरा अपना तरीका था, जिससे पिता जी मकान बेंच दें और सबका हिस्सा बराबर-बराबर बांट दें। मैं बहनों के द्वारा अपने ऊपर लगाए गए लांछन से बेचैन था।

मुझे बाहर रहते हुए दो महीने बीत गए थे। इस बीच पापा हर दूसरे-तीसरे दिन मिलने आते रहे। वे आते तो मेहमानों की तरह कुर्सी में बैठ जाते। अपने घर जैसी ठसक नहीं होती, वैसे अधिकार का भाव नहीं होता।

उस दिन मेरा मन बुरी तरह टूटा। जब तक पापा कमरे में बैठे रहे मेरा मन चीत्कार करता रहा। सिर्फ दो महीनों में ही पापा क्या से क्या हो गए। आयु का असर तो था ही, लेकिन मन की जद्दोजहद ने पापा को तोड़ दिया था। उनका पूरा शरीर किसी बीमार व्यक्ति की तरह कमज़ोर लग रहा था।

लगता था कि उनके पास कहने को कुछ भी नहीं है लेकिन कुछ कहना मजबूरी है। पापा का कहना था कि वापस चलो। मेरा कहना था कि जब मामला ही नहीं सुलझा तो वापस जा कर क्या होगा। फिर वही रोज़ की चक-चक होगी।

पापा हार कर वापस चले आए। चलते वक़्त मैंने पापा के पैर छुए। जब तक पापा मोड़ से मुड़ नहीं गए, मैं उन्हें देखता रहा। पापा के मुड़ते ही मैं अपनी रुलाई रोक नहीं पाया।

दो दिन बाद पापा फिर आए थे। उन्होंने बताया कि जीते जी मैं मकान में तो हिस्सा नहीं करूंगा, मेरे पास जो जमा पूंजी थी उसमें से ही दो-दो लाख तीनों को दे दिया है। सभी अपने-अपने घर चली गईं हैं। अब तुम अपना सामान लेकर वापस चलो। इतना कह कर पापा ने नैना को गोद में बैठाल लिया।

मैं वापस घर आ गया था। पापा अपना कमरा छोड़कर ऊपर वाले कमरे में चले गए हैं। घर क्या से क्या हो गया था। सम्बन्ध क्या से क्या हो गए हैं। बहनों ने घर आना छोड़ दिया है।

● ● ●

कहानी

ढलान पर कुछ पल साथ

प्रताप दीक्षित

परिचय
प्रताप दीक्षित
जन्म 30 सितम्बर 1950
प्रतिष्ठित पत्र पत्रिकाओं में रचनाएं
प्रकाशित एक कहानी संग्रह
''विवस्त्र एवं अन्य कहानियां'' प्रकाशित
सम्पर्क एम०डी०एच० 2/33, सेक्टर एच
जानकीपुरम लखनऊ 226021
मो० 0995639860

डायनिंग हाल में अभी लोग कम थे। बाद में तो भीड़ हो जाती। शाकाहारी काउण्टर अलग था। फिर भी, हाथ में प्लेट लिए हुए, उसने काउण्टर पर सुनिश्चित हो जाना चाहा। तभी उसके पीछे से किसी ने खनकती हुई महीन आवाज़ में पूछा था, ''इट इज़ वेजिटेरियन?'' उसने मुड़ कर देखा– एक दुबली पतली सी हरी साड़ी पहने लड़की उसकी ओर जिज्ञासा से ताक रही थी। उसे आश्चर्य हुआ, चलो कोई एक और भी है उसकी तरह। अन्यथा ज़्यादातर समूह में वह अकेला पड़ जाता। इन्स्टीट्यूट में उसका पहला दिन था। वह विदेशी मुद्रा प्रबंधन के कार्यक्रम में प्रतिभागी होकर आया था। सेवायोजकों के द्वारा संचालित इन्स्टीट्यूट में नव नियुक्त से लेकर वरिष्ठ अधिकारियों तक के लिए विभिन्न प्रशिक्षण कार्यक्रम, वर्कशॉप, सेमिनार आदि आयोजित होते रहते। पूरे देश में फैली हुई शाखाओं में, अधिकारियों के स्तर के अनुरूप तो अन्तर रहता ही, वहां उनके प्रसाधन कक्ष तक अलग रहते। यहां यह ऊपरी तौर पर तो वह महसूस न होता परन्तु अधिकारी उनके ग्रेड स्केल के अनुसार अपने पद की गरिमा के प्रति सजग रहने की कोशिश तो करते ही। कई तो डायनिंग हाल तक में टाई-सूट में सुसज्जित नज़र आते। एटीकेट, मैनर्स बोलचाल के अलावा खानपान से पिछड़े हुए न समझ लिए जाएं। अब नई सहस्त्राब्दी में हिन्दी बोलना और शाकाहारी होना पिछड़ा होना नहीं तो और क्या कहा जाता।

प्रशिक्षण के दौरान सप्ताहांत में वे नगर के दर्शनीय स्थल भ्रमण करते, गोकुल में चाट खाते, करांची बेकरी से बिस्किट खरीदते, पता करते मोतियों के आभूषण कहां और किस प्रकार सस्ते मिलेंगे, पैराडाइज में कैबरे शो के टिकट बुक कराने की कोशिश करते या जिन्होंने यह शो देख रखे हैं, उनसे वर्णन सुन कर लार टपकाते। बाकी समय यात्रा एलाउंस, हाल्टिंग अथवा संभावित वेतन पुनर्निरीक्षण के संबंध में चर्चा करते। आपस में पैसे एकत्रित कर व्हिस्की पीते।

वह अपनी थाली लिए एक टेबिल तक आया था। पीछे डोर में बंधी वह हरी साड़ी भी। वह मुस्कराया शायद उसे आशंका रही होगी उसके साथ न रहने पर उसकी प्लेट में कुछ अखाद्य पदार्थ न आ जाएं। वह सामने बैठ गई ''आई एम मीनाक्षी चेरियन फ्राम कुरूर, चेन्नई रीजन।'' उसकी अंग्रेजी में दक्षिण भारतीय लहजा स्पष्ट था। उसने ध्यान से उसकी ओर देखा। गहरे हरे रंग की सूती साड़ी, दुबली पतली, सांवले आकर्षक चेहरे पर नाम के अनुरूप बड़ी-बड़ी आंखें। पीछे की ओर कस कर बांधे हुए बालों में वेणी। वह संस्था की एक अधिकारी के बजाए एक सीधी सादी दक्षिण भारतीय ग हणी दिख रही थी। उसे याद आया कल शाम एयरपोर्ट की लॉबी में इसे देखा था। जवाब न देना अशिष्टता होती। उसने धीरे से कहा, ''लखनऊ''

वह सिगरेट पीना चाहता था। उसने सोचा औपचारिकता के लिए उससे अनुमति लेनी होगी। उसने इरादा मुल्तवी कर दिया। उसे सामान्य क्रियाओं छींकने, खांसने आदि पर सॉरी आदि इस प्रकार की दिखावे वाली औपचारिकताओं से उलझन होती।

अगले दिन नाश्ते के लिए उसे देर हो गई थी। वह प्लेट लेकर बढ़ा। वह एक कोने वाली मेज पर नाश्ता कर रही थी। मीनाक्षी ने हाथ हिलाते हुए उसे आमंत्रित किया, ''मेरा तो प्रोग्राम एक माह का है। मैं पहली बार यहां आई हूं। नए प्रोन्नत अधिकारियों के प्रशिक्षण हेतु। शाम के बाद कुछ करने को नहीं रहता।'' उसने ऊबते हुए कहा। वह उन्मुक्त, निश्चिंत और खिली-खिली सी लग रही थी। जैसा अमूमन घर से दूर रहने पर लोग लगते हैं। वह कुछ सलाह ऐसी देता इसके पहले ही उसका मोबाइल बजा था। पूरे दिन व्याख्यान कक्ष में मोबाइल के स्वीच आफ रहते। लेकिन सुबह-शाम घण्टिया घनघनाती रहतीं।

''हैलो ! तान पेसुगिरेन।''
(हैलो मैं बोल रही हूं।)
''फोन पळुदागि।''
(फोन खराब था।)
''विडुमुरै किडैक्क विल्ले।
(छुट्टी नहीं मिल सकेगी।)
''अप्पडि इरूक्क।'' (यह संभव नहीं है।)

इससे अधिक समझना उस नौसिखिए के लिए मुश्किल था। वह तमिल में जल्दी-जल्दी बोल रही थी। उसका सिर नकारात्मक ढंग से दांए-बांए हिल रहा था। उसके चेहरे पर तनाव और उत्तेजना के भाव थे। उसने अनदेखा किया। अगली सुबह वह फिर सामान्य थी। संयोग या सप्रयास बैठते वे साथ ही थे। एक दिन लखनऊ का पुराना सहकर्मी मिश्रा बगल से गुजरते हुए फुसफुसाया था, ''गुरु यहां भी जिजमानी चल रही है।''

सप्ताहांत में, पूरे हफ़्ते की बोरियत थकावट से निजात पाने के एहसास से सभी प्रफुल्लित थे। वे समूहों में कार्यक्रम बना रहे थें। चारमीनार, प्लेनिटोरियम, बिरला मन्दिर, सिनेमा, बाजार आदि। वह आकृति जाना चाहता था। कलाकारों के एक समूह द्वारा संचालित आर्ट गैलरी। आजकल राव भी यहीं था। आर्ट कॉलेज के बाद उससे मुलाकातें कम ही हो पाती थीं। तभी मीनाक्षी वहां आई। गहरी नीली सिल्क की साड़ी में ध्यान खींचती, ''आप कहीं गए नहीं?''

''आर्ट गैलरी जाने की सोच रहा हूं।'' उसने टालने वाले स्वर में कहा। ''मैं भी साथ चलूंगी।'' उसने बच्चों जैसी चपलता से साधिकार कहा, ''मेरी रूम मेट साड़ियां देखने गईं हैं।''

''यहां साड़ियां अच्छी मिलती हैं। तुम्हें जाना चाहिए था।''

''ओफ !'' उसने मुंह बनाया।

गैलरी में वह चित्रों में काफी दिलचस्पी ले रही थी। राव और साथियों से उसने मीनाक्षी का परिचय कराया। उसके भी कई चित्र गैलरी में लगे थे। वह उनकी बातों में न केवल रुचि ले रही थी बल्कि कला संबंधी प्रश्न भी। कला संबंधी उसकी जानकारी से प्रशांत को आश्चर्य हुआ। मीनाक्षी को अचम्भा लग रहा था कि नौकरी की व्यस्तताओं के बीच वह चित्र कैसे बना लेता है।

''जानते हैं मैं बचपन में बहुत सारे चित्र बनाया करती थी। मैं अपनी सभी नोटबुकें गणित, अंग्रेजी, विज्ञान की चित्र बना कर भर डालती। खूब डांट भी पड़ती। सीखना तो मैंने संगीत भी था। वह धुन में बोलती गई। लौटते समय रास्ते में फिएस्ता पर रुक कर प्रशान्त ने कहा, ''यहां की कॉफी मशहूर है। अब तक वह खुल चुकी थी। उसने बताया था– घर में पति और संयुक्त परिवार है। एक दस ग्यारह साल की पुत्री भी। पति एक प्राईवेट संस्था में अच्छी नौकरी में हैं। उनके रोज फोन आ रहे हैं कि मैं प्रशिक्षण छोड़ कर वापस लौट आऊं। ''तुम्हें बहुत प्यार करते हैं ना'' उसने छेड़ा। ''हाँ! बहुत ज़्यादा।'' उसने ज़्यादा पर जोर दिया, ''मेरी स्थायी नौकरी का मोटा वेतन न होता तो पारंपरिक परिवार में रहना मेरा रहना मुश्किल होता। उन्हें आपत्ति है मैं अपना मोबाइल क्यों बंद रखती हूं। मैं मोबाइल बंद रख कर जाने क्या-क्या करती हूं। जैसे मोबाइल आन रहने पर जो कुछ मैं कर रहीं हूं वह सब वहीं से जान लेंगे।'' कहते-कहते एक शरारत भरी हंसी उसके होंठों पर फूट पड़ी। बैरा बिल ले आया था। उसने तुरंत बैग से पैसे निकाल कर दिए। उसे समय ही न मिला कि वह कुछ करता। उसके पुरुषोचित अहं को ठेस तो लगी ही थी।

आने वाले दिनों में, निरन्तर भागते कालखण्ड के बीच, उनके हिस्से का समय मानों ठहर गया था। प्रशांत के अंदर व्याप्त मौलिक अकेलापन खण्ड-खण्ड चिटक रहा था। यह उसके लिए मुश्किल भी था और अपने अदम्य आकर्षण के साथ अंधेरे में छलांग लगाने के लिए आमंत्रित करता भी। उसे स्वयं आश्चर्य होता उसकी अव्यवस्थित ज़िंदगी में यह कौन सा नया प ष्ठ खुल रहा है। नए तो दूर पुराने संबंधों में ही औपचारिकता का निर्वाह उसके लिए कठिन था। पत्नी, रिश्तेदारों, सहकर्मियों की नज़र में वह आम पतियों और अधिकारियों की तरह नहीं था। वह स्वयं अपने को मिसफिट महसूस करता। उसके स जित एकान्त के घेरे ढह रहे थे। परंतु वह विवश था।

मीनाक्षी के व्यक्तित्व के अवरुद्ध प्रवाह को विस्तार मिला था। दिन भर की कक्षाओं के बाद उनकी शामें कॉफी हाउस, किसी पार्क अथवा इन्स्टीट्यूट के विशाल लॉन के कोने में पड़ी बेंच पर गुजरती। प्रशांत को कभी वह, किसी मेले में खेल तमाशों के उल्लास में डूबी उस बच्ची की तरह लगती, जिसे भटकने की आशंका तो होती है लेकिन एक आश्वस्ति भी कि उसके साथ

कोई है। कभी इतनी रहस्यमय जिसका अस्तित्व अज्ञात घाटियों में छाई धुंध सा अबूझ। कभी लगता वह एक अंधेरी गुफ़ा के अंतहीन सिरे पर युगों से पड़ी एक शिला है।

शायद वे, इस बहते हुए समय के किनारों पर इतने सारे बिखरे हुए रंगों से स जित, उत्सव की मरीचिका में शामिल होने के लिए प्रयास रत थे। वे देर तक मौन के असीम अर्थों वाले संवाद, जो आत्मा की गहराइयों तक उतरते, से अच्छादित बैठे रहते। एक दिन मीनाक्षी ने कहा था, ''क्या ज़िंदगी का यह सजा संवरा, व्यवस्थित, सुखी प्रतीत होता रूप जो दिखाई देता है, यह काट छांट कर कृत्रिम तरीके से बनाया गया बोन्साई पेड़ नहीं होता जिसे नैसर्गिक ढंग से पनपने का अवसर नहीं मिलता।'' उस पर अक्सर ऐसी शब्दावली हावी हो जाती तो उसकी उम्र से कहीं बहुत ज़्यादा लगती।

प्रशिक्षण के तीन सप्ताह बीत चुके थे। रविवार की शाम उसने गोलकुण्डा फोर्ट चलने के लिए आग्रह किया था, ''जो लोग वहां हो आए हैं, उनसे वहां के लाइट एण्ड शो की बहुत तारीफ सुनी है।''

अंधेरा घिर आया था। लाइट एण्ड शो के कार्यक्रम के बाद भीड़ कम हो गई थी। वे दूर, ऊंचे अंतिम छोर बालाहिसार तक चलते गए। थक कर एक समतल सी जगह में एक प्रस्तर शिला, जिसका बेंच की तरह उपयोग होता, पर बैठ गए थे। एक ओर गहरी खाई थी। दूर जलती लाइटों की, पेड़ों से छन कर हल्की, रोशनी के टुकड़े उन पर पड़ रहे थे। प्रशांत को लगा कि मीनाक्षी का सौन्दर्य खंडहरों में प्रतिबिंबित हो रहा है। वे कुतुबशाह से भी पहले काकातिया राजाओं के समय में पहुंच गए थे। हवा के साथ मालकौस की स्वर लहरियां चारो ओर तैर रही हैं। उसे लगा कि वे सितारों की रहस्मय खामोश फुसफुसाहटें सुनते सदियों से इसी तरह बैठे हैं। मीनाक्षी रोशनी और सुगंध की पारदर्शी प्रतिमा में बदल रही थी। वह इतने नजदीक थी उसे प्रतीत हुआ वह उसकी सांसों और दिल की धड़कनों को महसूस कर सकता था। उसके शरीर की तपिश से उसे डर लगा। वह एक साथ मुग्ध ा, दिग्भ्रमित और देश काल से परे हो चला था। अपने कहे शब्दों का अर्थ समझने में असमर्थ, विवश। इसी बीच मीनाक्षी किसी बात पर खिलखिला कर हंसी थी। उसके कानों में किसी तंत वाद्य के बजने की प्रतीति हुई। अपनी आत्मा की गहराइयों में अत प्त नितांत पवित्र प्यास के साथ उसे अपने ओर खींच उसके होंठों पर होंठ रख दिए थे। उसके शरीर की समस्त शिराओं, मन के खाली कोनों और आत्मा ने एक रूप होकर अस्फुट स्वरों में उच्चारा था– मीनाक्षी

वह कुछ पल निर्जीव उसकी बांहों में रही। उसके होंठ ही नहीं वह भी बर्फ़ की शिला में तब्दील हो गई थी। हंसी गायब थी। चेहरा आंसुओं से भरा। वह अपने आप में लौटा था, ''सॉरी, मुझे मालूम नहीं क्या हो गया था।''

सत्र का अंतिम सप्ताह। डायनिंग हाल में सबसे बाद में जाता, कभी नहीं भी। वह उसके सामने पड़ने से बच रहा था। दिन भर क्लास के बाद शाम से ही कमरे में बंद हो जाता। कल अंतिम दिन था। वह उससे मिल कर माफी मांगना चाहता था। लेकिन हिम्मत नहीं पड़ी। अंतिम दिन लोग खरीददारी की तैयारी में थे। वह कमरे में आकर लेट गया। एक माह गुजर गया था। क्या छूट गया था पीछे। उसकी नींद लग गई। अचानक शोर सुन कर वह बाहर आया था। लाउंज में लोग टी०वी० के सामने जमा थे। गोकुल चाट भंडार और लुम्बिनी पार्क में बम विस्फोट हुए थे। इसमें बार-बार घटना स्थल के चित्र और प्रत्यक्ष दर्शी लोगों के साक्षात्कार दिखाए जा रहे थे। इन्स्टीट्यूट के बड़े अधिकारी आ गए थे। पता लगाने की कोशिश की जा रही थी यहां कौन से प्रतिभागी मौजूद नहीं हैं। वह अपने कमरे में नहीं थी। उसको पहला ख़्याल यही आया– यह चाट की शौकीन बेवकूफ लड़की ज़रूर गोकुल गई होगी। वह तो पहले ही कई बार उससे वहां चलने की बात कह रही थी। वह कुरते पाजामें में ही बाहर सड़क तक चक्कर लगा आया। उसने गोकुल जाने का निश्चय किया। वह पर्स लेने कमरे में जाने के लिए बढ़ा। लिफ्ट ऊपर थी। वह सीढ़ियों की तरफ मुड़ा था। वह सीढ़ियों से उतरती दिखाई दी– बदहवास, हांफती। वह उतावली में उसकी ओर दौड़ी थी। उसे देख तसल्ली के बाद भी उसका गुस्सा उस पर बढ़ गया था। वह कुछ कहता इसके पहले ही रोती हुई उसने उसे झिंझोड़ दिया था, ''ओ गॉड! तुम कहां थे। मैं एक घण्टे से ऊपर नीचे दौड़ रही हूं।'' वह आंखें पोछने का उपक्रम करती मुस्कराई थी।

रात को भोजन कक्ष के बाहर वह प्रतीक्षारत थी। अंतिम दिन होने के कारण विशेष डिनर था। देर होने से कक्ष में एक दो ही लोग बचे थे। उसने दो बाउल में सूप लिया और पहले दिन वाली टेबिल पर बढ़ गई थी। कुछ देर चुप बैठने के बाद उसने धीरे-धीरे बोलना शुरू किया, ''आज अंतिम दिन है। कल सभी को चला जाना है। शायद कभी न मिलने के लिए। मैं सोचती रही, गलती मेरी ही रही होगी। मुझे पहले लगा था कि तुम प्रतीक्षा कर सकते थे। क्या किसी को पाने के लिए छूना जरूरी है? हम देख कर, एहसास करके भी तो किसी को छू सकते हैं, पा सकते हैं। तुमसे मिल कर तो यह एहसास और मजबूत हुआ था। बाद में मुझे लगा कि जहां भावनात्मक आधार होता है, वर्जनाएं गैर ज़रूरी हो जाती हैं। उस दिन जो कुछ हुआ वह उचित हो या नहीं, अस्वाभाविक नहीं था।''

प्रशांत ने कुछ कहना चाहा लेकिन उसने चुप करा दिया, ''मैं आज केवल कहना चाहती हूं। अपना सब कुछ व्यक्त। शायद इससे मेरी मुक्ति का द्वार खुलेगा। बाद में फिर शायद कोई सुनने वाला मिलेगा या नहीं! वह मुस्कराई, ''और मैंने नौकरी से इस्तीफ़ा देने का निश्चय कर लिया है। मेरे लिए मेरी पुत्री और घर अधिक महत्वपूर्ण है। मेरा क्या - - - !'' वह दूसरी ओर देखने लगी थी। उसने अपने हाथ पर उसके हाथ का स्पन्दन महसूस किया। असीम अर्थों वाले निःशब्द शब्द आत्मा की गहराई तक उतर गए थे।

निरपेक्ष कुछ भी नहीं

प्रेमिला सिंह

प्रकृति संसर्ग में,
अपने पुरुष को
करते हुए प्रेम
तय नहीं कर पाती
किस ओर खड़ा है व क्ष
खिड़की के बाहर
या मेरे भीतर
या,
वहाँ
जहाँ, सब कुछ
लय हो रहा है
काल,
जीवन,
जगत,
इतिहास,
अतीत, वर्तमान।
कहाँ उगी हैं,
मोरपंखी की झाड़ियाँ
बच्चों के स्कूल में
पार्क में
पुरी के सिन्धुतट पर
या,
उसके वक्ष पर।
कैसे सहमत हो जाऊँ
हे महर्षि कपिल।
ऋषिवर कणाद!
आप के दर्शन शास्त्र से।
यहाँ तो,
मिट चुका है,
संख्या का भेद
निरपेक्ष नहीं है मेरा पुरुष
वह मेरी धमनियों में गिर रहा है–
अपने समूचे पौरुष के साथ।
मेरी प्रकृति,
कोई लीला नहीं रच रही,
सच का विस्तार बन रही है
मेरी हथेलियों से छूट कर बहता जा रहा है–
मेरा जीवन,
तुम्हारा युग।
बाहर मैदान में,
मज़बूत शाखाओं वाला,
एक व क्ष
झूमता है,
झुकता है,
हवाओं के आकुल चुम्बन में,
कोई ग़ज़ल गुनगुनाता है,
शायद,
ग़ालिब
या, कि
मोमिन।
अपने पुरुष की मौन निरपेक्षता में
क्या,
तुमने नहीं सुना था,
प्रकृति का ऐसा निश्छल संगीत?
फिर क्यों माँगा था मोक्ष?
देख सको तो देखो,
मेरी पुतलियों में
एक शब्द नाच है,
पुनर्जन्म-पुनर्जन्म।
हे, ऋषिवर!
हे महर्षि गौतम!
महर्षि पतंजलि!
बावजूद इसके कि–

जबरदस्त पतझड़ है,
धूल भरी आँधियाँ हैं,
तुम रोक नहीं पाओगे,
परागण के क्रम को।
मेरा पुरुष उद्धत हो रहा है
प्रकृति उदग्र।
आज भी,
और शताब्दियों
बाद भी
जीवित रहेगा
तुम्हारा इतिहास।
और मेरा पुरुष,
अपनी आत्मा के उन्मद प्रवाह से
मुझसे करता रहेगा
जलप्लावन,
मेरी मनोमय शक्तियों को
चमकाता रहेगा
हँस-हँस कर।
प्राणभय कम्पन से
भर देगा मेरी देह।
भारतीय वांड्मय की
अजस्र जलधारा में
निमज्जित हो,
अपने युग की सर्वश्रेष्ठ
कलापुस्तिका के पन्नों से
हवा करता रहेगा
मेरे
थके-हारे चेहरे पर।
अब, वह नहीं रहेगा
निरपेक्ष,
क्योंकि
हे महर्षि जैमिनी!
महर्षि वादरायण!
निरपेक्ष
कहीं
कुछ भी नहीं।

राह सुझा

बहुत दिनों से
सोच रही थी,
कबिरा से संवाद करूँ
पर
वक़्त नहीं मिला।
वह,
मेरे अन्तर में
'उनमन्न' बैठा है।
ध्यानस्थ करता है,
और, मुक्त करता है,
मुझे,
मेरे मैं से।
मेरी निजता की
स्वायत्त परिभाषा में,
काल को साधे
वह खड़ा है।
''अनहद–किंगिरी''
बज रही है
शब्द–स्पर्श–रूप–रस–गंध
सब
'अनिअनि बानी'।
गूँज रही है
केवल
एक ध्वनि–
''कैसा है वह सत्य–स्वयंभू
छिपा हुआ है
हिरणयगर्भ में, जो
तेरे,

कैसा है वह 'कदली–कँवल प्रकास।'
वह 'मैमंता'।
एक बार
बस,
एक बार प्रिय।

इंगित कर दो'
मैं कैसा लगता हूँ
तुमको।''
नाच रही धरा,
नाचता गगन,
कबीर का करघा,
करघे का 'कूंच'
'को बीनै?
'प्रेम लागि री माई'
'को बीनै?''
ओ! जुलाहे आ!
'चींटी के पग नेवर' बाँधे आ!
मेरी साँसो के बीचोबीच
गाड़ दे एवं करघी
जितना चाहे, खीच ले ताना
भर दे बानी।
संवाद?
अभी नहीं।
अभी तो
राह सुझा
कबिरा कोई राह सुझा
मैं
डूब गयी हूँ
उस 'अनंत' में।

सम्पर्क : 303 उत्सव अपार्टमेन्ट,
379, लखनपुर कानपुर

● ● ●

लड़की : चार चित्र

मोहन सिंह कुशवाहा

(एक)

नीम के पेड़ तले
धूल भरे हाथ-पांव
घुरहू, गोबरधन, जनारदन के घेरे में
गर्दन पर हाथ धरे पूछे बन रानी–
बोल मेरी गुईयां कित्ता पानी?

(दो)

घर की रसोई में
आटा सने हाथ
धुँ-धुआता चूल्हा और अम्मा की डांट
यौवन की देहरी पर
पहुंची बन रानी
चेहरा गुलाल हुआ और चुनरी धानी
बोल मेरी गुंईयां, कित्ता पानी?

(तीन)

दबे पांव भाग गया
झंझट में पाग गया
आंगन में खींच गया बंदिश की रेखा
खोई-खोई आंखों से
दर्पण का प्रतिबिंब
बार-बार मुनिया से पूछे पहेली–
बैरी था बचपन या है यह जवानी
बोल मेरी गुईयां, कित्ता पानी?

(चार)

अम्मा और बापू की
छाती की बोझ हुई
भाग-दौड़ दौड़-धूप
कर्जा-दहेज हुई
नए-नए रिश्तों से
नया-नया दर्द मिला
सास कभी, ननद कभी, देवर की बोली
छोटी उमरिया बुजुर्गों सी बानी
बोल मेरी गुईयां, कित्ता पानी?

सम्पर्क : एफ टी– 173, अरमापुर कानपुर– 208009

हममें बहुत कुछ

उत्पल बैनर्जी

हममें बहुत कुछ एक-सा
और अलग था....

वन्यपथ पर ठिठक कर
अचानक तुम कह सकती थीं
यह गन्ध वनचम्पा की है
और वह दूधमोगरा की,
ऐसा कहते तुम्हारी आवाज़ में उतर आती थी
वासन्ती आग में लिपटी
मौलसिरी की मीठी मादकता,
सागर की कोख में पलते शैवाल
और गहरे उल्लास में कसमसाते
संतरों का सौम्य उत्ताप
तुम्हें बाढ़ में डूबे गाँवों के अंधकार में खिले
लालटेन-फूलों की याद दिलाता था
जिनमें कभी हार नहीं मानने वाले हौसलों की इबारत
चमक रही होती थी।

मुझे फूल और चिड़ियों के नाम याद नहीं रहते थे
और न ही उनकी पहचान
लेकिन मैं पहचानता था रंगों की चालाकियाँ
खंजड़ी की ओट में तलवार पर दी जा रही धार की
महीन और निर्मम आवाज़ मुझे सुनाई दे जाती थी
रहस्यमय मुस्कानों के पीछे उठतीं
आग की ऊँची लपटों में झुलस उठता था
मेरा चौकन्नापन
और हलकान होती सम्वेदना का सम्भावित शव
अगोचर में सजगता दिखता था मूक चिता पर।

तुम्हें पसन्द थी चैती और भटियाली
मुझे नज़रुल के अग्नि-गीत
तुम्हें खींचती थी मधुबनी की छवि-कविता
मुझे डाली[1] का विक्षोभ

रात की देह पर बिखरे हिमशीतल नक्षत्रों की नीलिमा
चमक उठती थी तुम्हारी आँखों के निर्जन में
जहाँ धरती नई साड़ी पहन रही होती थी
और मैं कन्दराओं में छिपे दुश्मनों की आहटों का
अनुमान किया करता था।
हममें बहुत कुछ एक–सा
और अलग था.....

एक थी हमारी धड़कनें
सपनों के इंद्रधनुष का सबसे उजला रंग... एक था।
अकसर एक-सी परछाइयाँ थीं मौत की
घुटनों और कंधों में धँसी गोलियों के निशान एक-से थे
एक-से आँसू, एक-सी निरन्तरता थी
भूख और प्यास की,
जिन मुद्दों पर हमने चुना था यह जीवन
उनमें आज भी कोई दो-राय नहीं थी।

1. डाली – विश्वप्रसिद्ध चित्रकार सल्वाडोर डाली

आखेट

अलमारी में बंद किताबें
प्रतीक्षा करती हैं पढ़े जाने की
सुरों में ढलने की प्रतीक्षा करते हैं गीत
प्रतीक्षा करते हैं -- सुने जाने की
अपने असंख्य किस्सों का रोमांच लिए
जागते रहते हैं उनके पात्र

जिस तरह दुकानों में
बच्चों की प्रतीक्षा करते हैं खिलौने
किताबें, पढ़ने वालों की प्रतीक्षा करती हैं
लेकिन जब उन्हें नहीं पढ़ा जाता
जब वे उन हाथों तक नहीं पहुँच पातीं
जो उनकी असली जगह है
तो बेहद उदास हो जाती हैं किताबें

घुटन भरे अँधेरे में हाँफते लगते हैं उनके शब्द
सूखी नदी की तरह आह भरती उनकी साँसें
साफ़ सुनाई देती हैं
उन पर समय की धूल-सा झरता रहता है दुःख
धीरे-धीरे मिटने लगते हैं उनके जीवन के रंग
विवर्ण होते जाते हैं उनके सजीले चेहरे
देह सूखकर धूसर हो जाती है
वे बदरंग साड़ियाँ पहनी स्त्रियाँ हैं
जो जवानी में ही विधवा हो गई हैं,
वे अकसर कोसती हैं अपनी किस्मत को
कि आख़िर उन्हें क्यों लिखा गया
और इस तरह घुट-घुट कर
मरने के लिए धकेल दिया गया कब्र में,
रात के सन्नाटे में उनका विलाप
नींद की देहरी पर सिर पटकता फ़रियाद करता है,
धीरे-धीरे वे बीमार और जर्जर हो जाती हैं
ज़र्द होती जाती हैं आँखें
फेफड़ों को तार-तार कर देती है सीलन
उपेक्षा की दीमक उन्हें कुतर कर रख जाती हैं
दरअसल वे लावारिश लाशें हैं जिन्हें लेने कोई नहीं आता

किताबें
गाँव जंगलों से खदेड़ दिए गए लोग हैं
जिनका बाज़ार ने आखेट कर लिया है!!

००

लौटना

अभी आता हूँ —— कहकर
हम निकल पड़ते हैं घर से
हालाँकि अपने लौटने के बारे में
किसी को ठीक-ठीक पता नहीं होता
लेकिन लौट सकेंगे की उम्मीद लिए
हम निकल ही पड़ते हैं,

अकसर लौटते हुए
अपने और अपनों के लौट आने का
होने लगता है विश्वास,
जैसे —— अभी आती हूँ कहकर
गई हुई नदी
जंगलों तलहटियों से होती हुई
फिर लौट आती है सावन में,
लेकिन इस तरह हमेशा कहाँ लौट पाते हैं सब!
आने का कह कर गए लोग
हर बार नहीं लौट पाते अपने घर
कितना आसान होता है उनके लिए
अभी आता हूँ —— कहकर
हमेशा के लिए चले जाना!

असल में
जाते समय —— अभी आता हूँ... कहना
उन्हें दिलासा देना होता है
जो हर पल इस कश्मकश में रहते हैं
कि शायद इस बार भी हम लौट आएँगे
कि शायद इस बार हम नहीं लौट पाएँगे

००

घर

मैं अपनी कविता में लिखता हूँ 'घर'
और मुझे अपना घर याद ही नहीं आता
याद नहीं आती उसकी मेहराबें
आले और झरोखे
क्या यह बे-दरो-दीवार का घर है!

बहुत याद करता हूँ तो
टिहरी हरसूद याद आते हैं
याद आती है उनकी विवश आँखें
मौत के आतंक से पथराई
हिचकोले खाते छोटे-छोटे घर ..... बच्चों-जैसे,
समूचे आसमान को घेरता
बाज़ नज़र आता है... रह-रह कर नाखून तेज़ करता हुआ
सपनों को रौंदते टैंक धूल उड़ाते निकल जाते हैं
कहाँ से उठ रही है यह रुलाई
ये जले हुए घरों के ठूँठ .... यह कौन-सी जगह है
किनके रक्त से भीगी ध्वजा
अपनी बर्बरता में लहरा रही है... बेख़ौफ़
ये बेनाम घर क्या अफ़गानिस्तान हैं
यरुशलम, सोमालिया, क्यूबा
इराक हैं ये घर, चिली कम्बोडिया... !!
साबरमती में ये किनके कटे हाथ
उभर आए हैं .... बुला रहे हैं इशारे से
क्या इन्हें भी अपने घरों की तलाश है?

मैं कविता में लिखता हूँ 'घर'
तो बेघरों का समुद्र उमड़ आता है
बढ़ती चली आती हैं असंख्य मशालें
क़दमों की धूल में खो गए
मॉन्यूमेण्ट, आकाश चूमते दंभ के प्रतीक
बदरंग और बेमक़सद दिखाई देते हैं।

जब सूख जाता है आँसुओं का सैलाब
तो पलकों के नीचे कई-कई सैलाब घुमड़ आते हैं
जलती आँखों का ताप बेचैन कर रहा है
विस्फोट की तरह सुनाई दे रहे हैं
खुरदुरी आवाज़ों के गीत

मेरा घर क्या इन्हीं के आसपास है!

००

सम्पर्क : बंगला न० 10, डेली कालेज परिसर,
इन्दौर– 452001
मो० : 9425962072

बुरके वाली औरत

– मंजरी श्रीवास्तव

लक्ष्मी नगर रेडलाइट पर
न जाने कब से बैठती है
एक बुरके वाली औरत
बुरके से बाहर निकले उसके हाथ
हरदम तोड़ते रहते हैं कुछ न कुछ
कभी कोई लंबी घास
कभी पापड़
और
कभी-कभी जंगली फूल
बुरके से झाँकती उसकी आँखें
सदा केन्द्रित रहती हैं
टूटती हुई घासों, पापड़ों और फूलों पर
लेकिन.....
उसकी आँखें कभी यह देख नहीं पाईं
कि
बेशक घासों और फूलों को कोई फ़र्क कभी न पड़ा हो
पर जब भी वह पापड़ तोड़ती है
उस पापड़ का तो एक टुकड़ा होता है
पर
जिस पापड़ बेचने वाले से वह पापड़ माँगती है
रोज़ उसके दिल के हज़ार टुकड़े होते हैं।

वह भी वर्षों से इसी बुरके वाली औरत के बगल में बैठकर और कभी रेडलाइट पर रुकने वाली बसों में चढ़कर भी पापड़ बेचता है।
बताता है
मैडम जी
आपको पता है ....
यह बुरके वाली पगला गई है
लोग इसे पगली कहते हैं
पर आप ही बताइए
क्या किसी से प्यार करने वाला पागल हो सकता है?
किसी का इंतज़ार करने वाला पागल हो सकता है?
मैं मानता हूँ हो सकता है
पर प्यार में या इंतज़ार में ही

मुझसे पूछिए
मैं जानता हूँ
आज यह बुरके वाली पगली क्यूँ बन गई?
बरसों पहले किसी के प्यार में गिरफ़्तार
उसके साथ भाग कर यह दिल्ली आई थी
और वह उसे यहाँ छोड़कर न जाने कहाँ चला गया
वह भी यह कहकर कि
जब तक तू यह घास तोड़ेगी
मैं आ जाऊँगा
बस अभी आया
पर वह कभी नहीं आया
और यह घास तोड़ती रह गई
फिर फूल और पापड़
और न जाने क्या-क्या तोड़ा इसने
पर यह नहीं टूटी
और आज भी तोड़ती जा रही है
घास, फूल और पापड़ .....।

सम्पर्क : द्वारा श्री जे० सूरी, मकान नं० 1145
ग्राउंड फ्लोर मुखर्जी नगर नई दिल्ली–110009
मो0 : 09891756846
ई० मेल : manj.sriv@ganail. com manj-sri@yahoo.com in

स्कूटर चलाती हुई लड़कियाँ

प्रदीप मिश्र

स्कूटर चलाती हुई लड़कियाँ
जब फर्राटे भरती हुई
गुजरतीं हैं पास से
लगता है जैसे
एक झोंका गुजर गया हो
मोंगरे की सुगन्ध से गमकता

स्कूटर चलाने वाली लड़कियाँ
पसन्द नहीं करतीं हैं किसी से पिछड़ना
वे सबको पीछे छोड़ती हुई
बहुत आगे निकल जाती हैं
इतना आगे कि पीछे मुड़कर देखने पर
सिर्फ़ उनकी गति दिखाई देती है

सबको पीछे छोड़ने वाली इन लड़कियों
को
महिला विमर्श के बारे में
पता है कि नहीं, पता नहीं
लेकिन वे जानती हैं कि
किस मोड़ से
कितनी गति से मुड़ना चाहिए
कब इतना चरमरा कर
ब्रेक लगाना चाहिए कि
स्कूटर के साथ-साथ
समय भी ठहर जाए

समय को लगाम की तरह पकड़े हुए
इन लड़कियों को देखना
मेरे समय का सबसे सुन्दर द श्य है।

हार कर बैठा हुआ आदमी

हर आदमी के अन्दर
कम से कम
एक आदमी और रहता है
यानि एक आदमी कम से कम
दो आदमी के बराबर होता है
कई बार तो हज़ारों आदमियों के बराबर

एक आदमी के सामने
एक समय में कम से कम
दो दुनिया होती है
कभी-कभी तो इतनी सारी दुनिया कि
उसे होश ही नहीं रहता कि
जीवन का कितना हिस्सा
किस-किस दुनिया में गुजरा

आदमी जब तक जीतता रहता है
एक भीड़ दौड़ती रहती है
उसके साथ
जब हारने लगता है
छंट जाती है भीड़
अकेला पड़ जाता है
फिर भी अंदर के आदमी होते हैं
उसके साथ

आदमी थकहारकर जब बैठ जाता है
मरने लगते हैं उसके अन्दर के आदमी
सिर्फ़ हाँफ़ती हुई दुनिया बचती है
उसके सामने

हार कर बैठा हुआ आदमी
ज़्यादा से ज़्यादा
एक आदमी के बराबर भी नहीं होता है

मो० : 09425314126

घर में

आभा श्रीवास्तव

धीरे-धीरे
सब कुछ बीत ही जाता है
ठीक वैसे ही
जैसे नदी का पानी
बह जाता है।
सुबह से शाम
शाम से सुबह
ग हस्थिन होती स्त्री
जब देखती है
सोलह बरस बाद आईना
सिर्फ़ कुछ धुँधली लकीरें
और चंद
स्याह सफ़ेद बाल।
समय की चिड़ियां
बड़ी तेज़ी से बाँच रही हैं उम्र।
चौके में रोटियां बनाते
कपड़ों को धोते हुए
मसालों और तेल की छौंक लगाते हुए
अचार, बड़ियाँ और पापड़ बनाते समय
न बसंत हँसता है
न सावन गाता है
केवल मरे हुए सपने
कभी-कभी साँस लेते हैं।
एक उबाऊ बासी दिनचर्या से बँधी औरत
दिन भर खटने के बाद
देखती हैं नई चमकदार, लाल चूड़ियाँ
बिछुए और पायलें
खुश हो जाती हैं
तैयार हो जाती है
कल के कोल्हू में जुत जाने के लिए।

अनुरोध

बादल
तुम बरसो इतना
बरसों तुम इतना बादल
कि पाटल और पलाश खिलें
सावन और असाढ़ मिलें
आँगन-ओसारे पर
बूँद-बूँद अम त टपके
मन के मालिन्य घुलें
कोई कलुष न रहे
इतना बरसो बादल
कि
एक युग से
रुका हुआ रुदन
फूट पड़े
बह जाए तुम्हारे प्रवाह में।
संवेदनाओं के ज्वार फूटें
चुप्पी के कगार टूटें
बान की खटिया
दालान में भीगे
आँचल भीगे
तन-मन भीगे
बादल बरसो इतना
कि सूने आँगन में
पायल छनके
खुशियाँ हर्षें
बार-बार बरसो बादल
तपिश के थमने तक
बरसो।

दो सहयात्री

आओ
कुछ बात करें
पेड़ों की, पहाड़ों की,
खेतों की, खलिहानों की,
बादलों की, बरसातों की,
न, न,
दुनियादारी की नहीं
तेरी, मेरी,
इसकी उसकी भी नहीं
उन्हें परे हटाकर
जीवन का बीतापन
वापस ले आएं।
फिर बादलों से खेलें
इन्द्रधनुषी गीत गाएं
वे
कोमल स्वर
जो समय पात्र की तली में
कहीं सोए हैं
खोए हैं
फिर से उन्हें तलाश लें।
बिखरे हुए कोमल एहसास
अनछुए, अधूरे
पारदर्शी गीत
जिन्हें भूल गए थे
जीवन की आपाधापी में
क्या गाने को मन करता है फिर से?
आओ लिख डालें
मन के भोजपत्र पर
भूले हुए काव्य
साथ-साथ दोहराएं
कुछ गाएं
ताकि मन हो जाएं
रुई के गाले से हल्के
चेहरे हों
तपस्वी से ध्यानमग्न
न कोई कामना
न वासना
न ईर्ष्या
न द्वेष
बस वितरागी से हम तुम
चलते रहें
चलते रहें
म त्युपर्यन्त
जीवन पथ पर।
आओ साथ चलें
तब तक
जब तक
साँसे साथ देती रहें
आँसू न बहें,
न रुकें
धीरज इतना धाराप्रवाह रहे
कि
धरती ईर्ष्यालु हो जाए
आओ
सात पग नहीं
सात जन्म नहीं
सात युगों तक
यूँ ही
साथ चलें।

बिट्टी की चिट्ठी

उसी दर्द से मैं भी जन्मी, उसी दर्द से भाई।
भाई दुलारा, आँख का तारा, मैं क्यों हुई पराई?

सारे व्रत उपवास तुम्हारे, भइया मेरी उमर लगे।
सौरीग्रह से मुझे मारने, जीवन भर यमदूत चले।

एक कदम मैं आगे बढ़ती, दो-दो डग पीछे हट जाती।
बिट्टी की राहों में दुनिया, कितने रोड़े अटकाती।

पढ़ना लिखना मैं भी चाहूँ, पापा मुझको पढ़ने दो।
भइया के जैसा ही मुझको, पढ़ लिख कर कुछ बनने दो।

भइया एम.बी.ए. कर लेता, मैं क्यों बी.ए. पास?
इस डिग्री के साथ नहीं, किसी जुगत की आस।

बी.ए. किया बिदेस बियाही, माँ ना पूछे हाल।
चक्की के पाटों में पिस कर, बिट्टी है बेहाल।
बिट्टी की बिटिया जब जन्मी, माँ तब रोई जार-जार।
बिट्टी की पलकों में उमड़े, कितने सपनें बारम्बार।

लक्ष्मी का है रूप कहो, या दुर्गा का अवतार।
इस बेटी का नहीं कहीं, है आदर सत्कार।

युग बदला फिर बिटिया जन्मी, लेकिन सभी उदास।
सबके मन में दबी कहीं थी, पुत्र जन्म की आस।

मौसम बीत चुका

कुछ लिखना
क्या लिखना

पंजाबी कविता

काया का प्रसंग

परमिन्दरजीत

वह मौसम अब तो बीत चुका।
टूटे शब्दों की
अकथ कथा
किस कवि से पूछें
फीके फागुन की पीर व्यथा
बिरहन से पूछें
कड़ी धूप है
सूना पनघट
सावन अब तो रीत चुका।
बँधे हुए पालों की नावें
बहती नहीं
नदी सोती है
घाट मंदिर मौन हैं
उस पार कहीं
बुलबुल रोती है
पतवारों के बीच कहीं
बूढ़ें झाँसी का गीत चुका।
लिपे हुए घर आँगन
जाने क्यों बदरंग हुए
घर बार बंटे
त्यौहार छंटे
फ़ीके-फ़ीके से रंग हुए
हाट लगी दुनियादारी की
बिके हुए रिश्ते बेरंग हुए
नेह, प्रेम, ममता को
अंधियारा जीत चुका।

सम्पर्क : द्वारा नीरज श्रीवास्तव,
फ्लैट न० ३०३ कुमार इन्क्लेव,
वज़ीर हसन रोड, लखनऊ–226001
मो० : 09450324243

देखता हूँ अपने बेटे को
पिच्चुक-कन्चे, इक्कड़-दुक्कड़ खेलते
पंतग उड़ाते
छुप-छुप कर नन्हीं-नन्हीं शरारतें करते
कोई मैच खेलते-खेलते

अनखेले खेल खेलते
उसे खेलते हुए देख कर
मेरी आंखों के कन्चे चमक उठते
छुपा-छुपाव्वल पांवों में दौड़ने लगती
द ष्टिगोचर होने लगती अपने बचपन
की पगडण्डियां
सांसों में खिल उठता मन्द-मन्द हास्य

उसका बचपन
मेरे जिस्म में लौट आता
उसकी मां की अनुपस्थिति में
स्कूल जाने के लिए
उसे समय पर उठाता
नाश्ता तैयार करता
ममता का भ्रम सज ता
अपने अधेड़ खुद में
उसका बचपन भोगता

मेरे संग-साथ ने
न जाने क्या दिया हो उसको
उसके साथ ने
मेरी काया का बदल दिया है प्रसंग।

● ● ●

घर

घर है
रिश्ते हैं
फर्ज़ है, रस्में हैं
पूर्ण-अपूर्ण ख़्वाहिशें
मन का इस्तेमाल
नाग के अधरों पर बांसुरी
आग के पांवों में घुंघरू
घर में मौसम नहीं
मौसमों की पद्चाप आती है

घरों में आदमी
जीता नहीं
जिया जाता है
खुद की नहीं
दूसरों की जून भोगता

घरों में रिश्ते नहीं
रिश्तों के मैले लिबास रहते हैं
तन की माटी भोगते

निःशेष हो जाए आदमी
पर कायम रहते हैं
ये लिबास
वक़्त-बेवक्त के इस्तेमाल के लिए।

अनुवाद : अमरीक सिंह दीप

अनिला भुल्लर की ग़ज़लें

1

दश्ते जुनूं में रस्ता नज़र नहीं आता
मैं कितना भी सफ़र कर लूं घर नहीं आता।

तेज़ धूप में मुझे साया तो दे
सुना है रस्ते में कोई शज़र नहीं आता।

अजब सी आहटें दस्तक देती जाएं
कौन है तारीकी में नज़र नहीं आता।

एक रंग बिरंगी दुनिया और इश्क का जंगल है
जो इसमें खो जाए उम्र भर नहीं आता।

एक हेवला सा बनकर मेरे सामने रहता है
मैं कैसे दाख़िल होऊं नज़र दर नहीं आता।

2

पाँव ज़िन्दा हैं सफ़र ज़िन्दा है
हम में जीने का हुनर ज़िन्दा है।

दिल धड़कने से यह एहसास हुआ
बर्फ़ खाने में शरर ज़िन्दा है।

मेरे आफक़ार की न मुंह देखो
पेड़ सूखा है शजर ज़िन्दा है।

कश्तियां डूब चली हैं सारी
यह सुना है कि भंवर ज़िन्दा है।

अनिला भुल्लर का जन्म लाहौर और परवरिश इस्लामाबाद में हुई। ग़ज़ल कहती और नज़्में लिखती हैं। कविताओं का संकलन उर्दू में प्रकाशित हुआ है। हिन्दी में पहली बार छप रही हैं।
email : anila bhullar @gmail. com

कमलेश भट्ट 'कमल' की दो ग़ज़लें

1

कहाँ मंजूर था कोई भी पलभर चैन से बैठे
क़यामत करके बरपा सारे विषधर चैन से बैठे।

वो पत्थर है मज़ा आता है उसको खून पीने में
तुम्हारा मश्वरा ये है कि पत्थर चैन से बैठे।

लगी हो आग जिस जंगल के अपने एक हिस्से में
वो कैसे आग से नज़रें चुराकर चैन से बैठे।

सियासत तो सियासत है सियासत का चले वश तो
न बन्दे चैन से बैठें न ईश्वर चैन से बैठे।

समाई हैं कई बेचैन नदियाँ उसके सीने में
अगर चाहे भी तो कैसे समन्दर चैन से बैठे।

कोई मछली नहीं जिन्दा कमल बाकी नहीं कोई
बता दो ऐसे में कैसे सरोवर चैन से बैठे।

2

सफलता पाँव चूमे ग़म का कोई भी न पल आए
दुआ है हर किसी की ज़िन्दगी में ऐसा कल आए।

ये डर पतझड़ में था अब पेड़ सूने ही न रह जाएँ
मगर कुछ रोज़ में ही फिर नये पत्ते निकल आए।

हमारे आपके खुद चाहने भर से ही क्या होगा
घटाएँ भी अगर चाहें तभी अच्छी फ़सल आए।

हमें बारिश ने मौका दे दिया असली परखने का
जो कच्चे रंग वाले थे वो अपने रंग बदल आए।

हमारा क्या हम अपनी दुश्मनी भी भूल जाएँगे
मगर उस ओर से तो दोस्ती की कुछ पहल आए।

अभी तो ताल सूखा है अभी उसमें दरारें हैं
पता क्या अगली बरसातों में उसमें भी कमल आए।

सी 631, गौड़ होम्स गोविन्दपुरम, गाज़ियाबाद उ०प्र०

स्व० कवि श्रीप्रकाश श्रीवास्तव की चार ग़ज़लें

(1)

वो देवता से कम नहीं जो हाथ पर रख दे
किसी के जिस्म से कांटा निकाल कर रख दे।

एक ये है कि जो लटका रहा है फाँसी पर
एक वो है जो फन्दा उतार कर रख दे।

ये रहमतों के दरख़्तों की छांव क्या कहिये
तू मेरे हाथ में यादों के गुलमोहन रख दे।

रस तो पीने के लिये है, संजो के क्या होगा
न जाने फोड़ के किस वक़्त वो गागर रख दे।

यों तो बादल सभी आते हैं चले जाते हैं
वही बादल हैं बदल कर जो बंजर रख दे।

यों बुलन्दी पे रहे आपका वजूद सदा
कि आसमान भी देखें तो अपना सर रख दे।

(2)

लोग कोठी बना के रहने लगे
और हम गुनगुना के रहने लगे।

ओस के बाद जब किरन ने छुआ
फूल कुछ कुनमुना के रहने लगे।

वे सुमन की तरह न हँस पाये
सिक्के जो खनखना के रहने लगे।

तुम मुझे क्या मिले अमावस में
साथ हम ज्योत्सना के रहने लगे।

मेरी मस्ती जो देखे शहजादा
वो भी कुटिया बना के रहने लगे।

'प्रकाश' क्या हुआ कि वीणा के
तार सब झनझना के रहने लगे।

(3)

जब कहीं चैन औ सुकून न पाया जाये
क्यों न मेहनत के पसीने से नहाया जाये।

तूने फिर मुझमें प्राण डाल दिए कुछ ऐसे
जैसे मंदिर में शाम, दीप जलाया जाये।

जिन्दगी जंग है और ज़ंग लगी तलवारें
शान के वास्ते फिर शान चढ़ाया जाये।

आँधियां यो न चला बेवजह खफ़ा होकर
एक तिनका भी नशेमन का न पाया जाये।

रंग जो मुल्क की तस्वीर में कुछ रंग भरे
मेरा लहू भी उसी रंग में मिलाया जाये।

(4)

तुम्हें निहारे हुए बहुत दिन बीत गये
मन को मारे हुये बहुत दिन बीत गये।

चलो चले शायद दरवाजा खुला मिले
बन्द किवारे हुये बहुत दिन बीत गये।

फिर वो ही तस्वीर टांग दो कमरे में
जिसे उतारे हुये बहुत दिन बीत गये।

नीड़ छोड़ कर सपनों का नभ क्या देखूँ
पंख पसारे हुये बहुत दिन बीत गये।

अन्तर की वीणा फिर तुम्हें पुकार उठी
तार उतारे हुये बहुत दिन बीत गये।

इस उम्र में 'प्रकाश' हाथ मत मला करो
बाजी हारे हुये बहुत दिन बीत गये।

घर से लगा बगीचा

वीरेन्द्र आस्तिक

देख रहे हो, यह जो
घर से लगा बगीचा है
सही कहूँ तो इसने मेरा
जीवन सींचा है।

बाग, नगर के बीच कि जैसे
काया भीतर दिल
मेरा रहना ऐसे जैसे
दिल के भीतर दिल

बाग, छाँव-छत
बाग बैठका
बाग गलीचा है

हरी पत्तियों पर किरणों की
क्या केमिस्ट्री है
दूर-दूर तक वायु-प्रदूषण
की 'नो इण्ट्री' है

कठफोड़वा की खुट-खुट पर
मन-मांदल रीझा है।

निबुआ, अंबुआ और
जमुनिया से बतियाता हूँ
सच्ची पूछों तो मैं आदिम
होता जाता हूँ

दूर विजन-सुख में रमने का
बाग दरीचा है।

भीतर का आकाश

भीतर का आकाश मिला तो
उगने लगे सितारे

कंकरीट की ऊबन से
दबे पाँव निकला
वनस्थली की
हरी दूब पर
जी भर टहला

शीतल पवन-नहान खुले में
बूढ़ी केंचु उतारे

खर-पत्तों पर सुस्ताए
मन के सुन्दन वन
बहुत कीमती लगते हैं
ऐसे में दो क्षण

राग सभी के अपने लगते
नैनीताल किनारे

रूमानी हो बैठी है
प्रकृति सुन्दरी-सी
कामयाबियां कल की
लगती मामूली-सी

मंजिल बीती
रात सरीखी
पंछी उड़ा उजारे

सम्पर्क : एल-60, गंगा विहार, कानपुर-208010

दो कविता

चले आओ : चले जाना

यतीन्द्र नाथ 'राही'

अभी दर्पण उजारे हैं
उजर जाएँ
चले जाना!

यहाँ देखा
वहाँ ख़ोजा
कहाँ कितने पते पूछे
मगर जाने कहाँ
तुम आज तक
बैठे रहे रूठे?
धरा नापी
गगन नापा
मार्थत करते रहे सागर
मगर है अब तलक रीती
हमारी प्यास की गागर
उमड़कर
स्वांन्ति घन छाए
बरस जाएँ

चले जाना!
कोई सन्देश लाया है
किरन के हाथ पीले हैं
किसी की गोद भरनी है
किसी के नयन गीले हैं
कली का
नव निंमीलन है
नए संस्फुरण संगोपन
सुरभि के पंख में आकाश
कदमों में नया जीवन
उलझते केश
केसर के
सुलझ जाएँ
चले जाना!

किसी की छवि अपूरव
नयन में,
सजने लगी जैसे
बजे सन्तूर
वंशी प्राण में
घुलने लगी जैसे
कोई पगध्वनि मधुर-कोमल
झंकृत करने लगी आँगन
किसी के स्वर
अनाहद नाद से
झंकृत हुए पावन
हमारी लय-विलय के
क्षण संवर जाएँ
चले जाना!

सयाने हो गए हैं
चाहतों के मन
चले आओ!

न जाने
कौन सी उत्कुल्लता के
फूटते झरने
युगों की प्यास के
मधु पात्र
फिर से लग गए मरने
उँगलियों पर

गिने जाते नहीं
अब क्षण
चले आओ!

न ठहरेंगे बसन्ती दिन
किसी कचनार की ख़ातिर
पिये महुआ
हवाओं के चलन
होते बड़े शातिर
पलाशों पर दहकते
प्रीति के फागुन
चले आओ !

निमन्त्रण हैं
समन्दर के
नदी की धार व्याकुल है
कहीं पर
रूप गर्वित है
कहीं पर
पीर पागल है
बरसते रस कलश पावन
मदन भावन
चले आओ !

सम्पर्क : न्यूज आउटइन ए-54 रजत विहार होशंगाबाद रोड, भोपाल-26
फोन : 3090357 (नि.) 2556555 (ऑ.)

लघुकथा

छोटू का सपना

विज्ञान भूषण

रात के करीब 11-11.30 बज रहे थे। मैं एक छोटे से कस्बे के एक ढाबे पर पहुंचा। ढाबे का मालिक ऊँघ रहा था। मैंने उसे झिंझोड़ते हुए पूछा– 'क्यों भाई, कुछ खाना-वाना मिलेगा?'

वह हड़बड़ा कर उठ बैठा– 'हां. .... हां... बाबू जी आओ अंदर।'

अबे छोटुआ, कहाँ मर गया बे, जल्दी से से मेज़ पर कपड़ा मार और पानी रखकर, खाना लगा दे।'

कुछ ही देर में दस-ग्यारह साल का एक बच्चा आंखें मलता हुआ हाथ में गीला कपड़ा लिए आया। मेज़ साफ़ कर पानी का जग और गिलास रख दिया। मुझे दया आ गई उस पर।

'क्या नाम है तेरा?'

बिना कोई जवाब दिए वह चला गया और कुछ ही देर में खाना लेकर वहाँ आया, फिर चुपचाप वहीं खड़ा हो गया।

मैंने खाना शुरू किया उसे देखता रहा।

'तूने अपना नाम नहीं बताया...'

'छोटू...'

'अरे असली नाम क्या है तेरा?'

'.....'

'स्कूल नहीं जाता?'

'.....'

'पढ़ने का मन नहीं करता?'

'.....'

'पिक्चर देखता है, कौन-सा हीरो अच्छा लगता है?'

'.....'

अबे गूंगा है क्या, कुछ बोलता क्यों नहीं?'

'.....'

'अच्छा ये बता, क्या बनेगा बड़ा होकर क्या सपना है तेरा....?'

'बाबू जी, जल्दी से खाए लो..... मेज़ साफ़ करे का है....। ढेर सा बर्तनौं पड़ा है, धोवै का...।'

वरिष्ठ उपसंपादक हरिभूमि
सी–101,102 न्यू मुल्तान नगर
दिल्ली–56
मो० : 09958350739

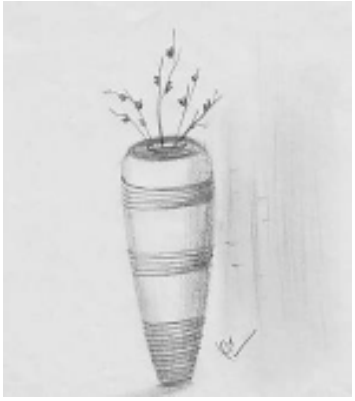

हे काल ठहरो

पं. जगन्नाथ त्रिपाठी 'शारदेय'

जन्म : 11 फरवरी 1930

कृतित्व : शेक्सपियर कृत ''ए मिडसमर नाइट ड्रीम'' व ''ट्वेल्फथ नाइट'' का पद्यबद्ध हिन्दी अनुवाद। डॉ० इक़बाल के ''शिकवा और जवाबे शिकवा'' का पद्यबद्ध हिन्दी अनुवाद। प्रसाद कृत आंसू का भोजपुरी अनुवाद। उमर ख़य्याम की रुबाइयों का भोजपुरी अनुवाद।

कविता संग्रह : क्षितिज छूना चाहता हूँ

अन्य : लेख, ललित निबन्ध।

निधन 16 फरवरी 2011

आ गये तुम सहसा बिन बुलाये बिन बताये।
क्या करूँ मैं ?
था कभी मै आत्म विस्म त हर्ष के अतिरेक में
उत्कर्ष के अभिषेक में
उस समय तुम यदि चले आते
मुझे चिंता न होती
मैं तुम्हारे साथ चल पड़ता उसी क्षण
बिना कुछ सोचे विचारे।
था कभी मैंने स्वयं तुमको बुलाया
जब रहा था डूब दुःख के सिंधु में
अतिशय निराशा के परम लघु बिंदु में
उस समय यदि तुम चले आते
तुम्हारे आगमन पर बिछा देता पावड़े
करता सकल सत्कार
चल पड़ता तुम्हारे साथ
होकर मुक्त भव के जाल से
पर आज तो मैं हो गया हूँ व द्ध
वय से ज्ञान से
पक चुका हूँ अनुभवों की आँच से
द ष्टि सम्यक डाल सकता हूँ
सुदीर्घ अतीत पर
देख सकता हूँ
एक भारी बोझ श्र ण का
शीश पर
पूरे जगत का
पूर्वजों का अग्रजों का
बन्धुओं का ज्ञानियों का
ऋषि समान मनीषियों का
सोचता हूँ क्या उश्र ण होना कभी सम्भव भला मेरे लिए है।
इस महा ऋण
भार से ? नहीं निश्चय ही नहीं !
किंतु मेरे पास भी तो कुछ न कुछ है ही
जिसे अर्जित किया मैंने मनन से
अध्ययन से अनुभवों की तपन से
इसलिये अब चाहिये अवकाश
ताकि अपनी शक्ति भर मैं उऋण होने
का करूँ आयास
इसलिये
हे काल ठहरो !
जब तलक
मैं चूक न जाऊँ
पास मेरे जो बचा है
उसे जब तक दे न पाऊँ
रिक्त होते ही तुम्हें मैं टेरूँगा
पुकारूँगा
ललक के साथ !
और अपने को स्वयं प्रस्तुत करूँगा
मुदित मन स्मित वदन यह कहते हुए
मैं तुम्हारी ही प्रतीक्षा में खड़ा था
आ गये तुम !!

• • •

स्म ति शेष

जगन्नाथ त्रिपाठी 'शारदेय' को याद करते हुए

चंद्रेश्वर

जगन्नाथ त्रिपाठी शारदेय का जन्म उत्तर प्रदेश के मऊनाथ भंजन जनपद के एक गाँव भदसा मानवपुर में 11 फरवरी सन् 1930 को हुआ था। यह मैंने शारदेय की पुस्तकों पर उनके संक्षिप्त रूप में छपे।

हुए आत्म-परिचय को पढ़ कर जाना था। 1990 में वे वन अधिकारी (d.f.o.) के पद से सेवा निव त्त हुए थे। इसके बाद वे गोंडा में घर खरीद कर वहीं रहने लगे थे। सेवा निव त्ति के बाद सन् 1990-91 से त्रिपाठी जी कवितायें लिखने लगे थे।

करीब डेढ़ दशक तक उन्होंने कवितायें लिखीं। इसके बाद अपनी अस्वस्थता के कारण त्रिपाठी जी अपने बड़े बेटे विवेक के साथ लखनऊ में रहने लगे थे। एक लम्बे अरसे से वे मधुमेह से पीड़ित थे। लखनऊ की व्यस्त ज़िन्दगी उन्हें कभी रास नहीं आती थी। उन्हें छोटे शहरों की आत्मीयता भरी ज़िन्दगी बेहद पसंद थी। लखनऊ में वे कविताएँ नहीं लिख पा रहे थे.... साहित्यिक बातचीत के लिए उन्हें उपयुक्त वातावरण भी नहीं मिल पा रहा था। उनके सारे घनिष्ठ मित्र गोंडा में ही छूट गए थे। मैं जब भी उनसे मिला उपरोक्त बातों का ज़िक्र उन्होंने ज़रूर किया। मैंने 'हंस' में 'निकट' पत्रिका का विज्ञापन पढ़ा था जिसमें जगन्नाथ त्रिपाठी 'शारदेय' के साक्षात्कार की सूचना भी थी मुझे काफी प्रसन्नता हुई। ऐसे मनीषि लेखकों का साक्षात्कार आना चाहिए जिनके पास लम्बी जीवन यात्रा का अनुभव हो और साहित्य का व्यापक एवं गहरा अध्ययन हो। इधर एक डेढ़ महीने से मैं उनसे नहीं मिल सका था उनसे मिलने के बारे में योजना बना ही रहा था कि उनको जन्मदिन की बधाई देने उनके घर जाऊँगा पर अपनी भाग-दौड़ और व्यस्तता के चलते नहीं जा सका। 12 फरवरी को मैं बलरामपुर से लौटा। 156 किलोमीटर की दूरी की उबाऊ बस यात्रा की थकान भी नहीं उतरी थी कि फ़ोन पर यह समाचार मिला। 11 फरवरी को ही उन्होंने अपने जीवन के 81 वर्ष पूरे किये थे उसी शाम करीब 8.30 बजे उनको बहुत गंभीर ब्रेन स्ट्रोक हुआ और वे कोमा में चले गए। 13 फरवरी की सुबह (रविवार) इंदु के साथ उनको देखने मैं सहारा अस्पताल पहुंचा। उन्हें दूर से ही शीशे की दीवार से झाँक कर देख पाया। करीब जाकर देखने का अवसर नहीं पा सका।

अस्पताल में उनके परिजनों, सगे सम्बन्धियों और जानने पहचानने वालों की भारी भीड़ थी। मैं उस भीड़ में खड़े-खड़े स्म तियों के सरोवर के गहरे नीले जल में उतरता जा रहा था। अपने काव्य संकलन (क्षितिज छूना चाहता हूँ) के पुरोवाक में त्रिपाठी जी ने लिखा है– ''यदि मैं गोंडा में निर्वसित न होता तो इसमें संदेह है कि मैं कविता भी करता, तो क्या यह कहना अतिशयोक्ति है कि गोंडा ने मुझे कवि बना दिया। इसी को तो मैं नियति का विधान मानता हूँ। कई कविताओं में मेरा भोगा हुआ यथार्थ मुखरित हुआ है। एक बात उल्लेखनीय है कि इस काव्य संकलन के प्रणयन का सघन काल मोटे तौर पर कोई 15 वर्षों का है। बाद में तो मैंने अपने को भाषा विज्ञान, ललित निबंध आदि तक ही सीमित कर लिया।''

शारदेय जी में जीवन के सलीके से जीने का अतिशय उत्साह था। अन्तरंग बातचीत में वे हमलोगों से कहा करते थे कि 70-75 की उम्र भी क्या कोई उम्र होती है। वे जीवेम शरदम शतः के आकांक्षी थे।

शारदेय ने प्रकृति को बहुत नज़दीक से देखा था। उन्होंने आधे से अधिक जीवन जंगलात की नौकरी करते बिताया था। वे अक्सर मज़ाक में कहते थे मैंने तो जीवन भर जंगलों की खाक छानी है। अपनी घोर ईमानदारी के लिए वन विभाग में उनका बहुत सम्मान था। उन्होंने अपनी जानकारी में जंगल का एक भी पेड़ नाजायज़ नहीं कटने दिया। अक्सर यह कहते हुए वे भावुक हो उठते थे वे प्रकृति के प्रेमी थे। उन्होंने जंगल और ऋतुओं पर कई दोहे भी लिखे हैं।

चुपके दुबके थे पड़े शीत-भीत जो रात, बाघ, हिरन फूटे किरण गरमाते अब गात।

भालू 'भेक' भुजंग जो ढले न ऋतु के संग विवश भूमिगत हो गए पड़े सिकोड़े अंग।

अपनी निम्नाकिंत पंक्तिया उन्हें बहुत प्रिय थीं। वे अक्सर सुनाते थे और खूब हंसते थे।

माघ पूस के छोकरे कर देते हैं हुर्र। सोन चिरय्या धूप की हों जाती है फुर्र।

अभी डेढ़ दो साल पहले की ही बात है उनकी कविताओं का पहला संकलन ''क्षितिज छूना चाहता हूं'' छपकर आया था। वे बेहद उत्साहित और उल्लासित थे। मुझे अपने काव्य संकलन की एक प्रति बहुत स्नेह के साथ सौंपते हुए उन्होंने कुछ रचनाएँ दोहे मुक्तक गीत और मुक्त छंद की कविताएँ भी सुनाई थीं। उन्होंने एक मुक्तक में स्वयं पर टिप्पणी की थी।

'गत उन्यासी वर्ष न जाने कितने बाकी जाने कितनी और देखनी जीवन झांकी। कितनी वो वह पिला चुका है कड़वी मीठी जाने कैसी कितनी और पिलाए साकी' (2009)।

हिंदी की समकालीन कविता पर अक्सर उनसे मेरी बहस

होती थी। वे अतुकांत और मुक्त छंद की कवितायें ध्यान से सुनते थे। उन पर अपनी राय ज़ाहिर करते थे फिर भी वे कविता में शैली को लेकर छंदों के आग्रही थे। वे समकालीन कविता को हिन्दी की उपधारा मानते थे। वे मूलतः एक भाषाविद एक पुरातत्ववेता वानिकी एवं पर्यावरण के विशेषज्ञ थे। भक्त कवियों में तुलसी उन्हें बहुत प्रिय थे। उन्होंने तुलसी पर एक लम्बी कविता भी लिखी है। छायावादियों में प्रसाद उनके प्रिय कवि थे। उन्होंने प्रसाद के आंसू का भोजपुरी में अनुवाद किया है। शेक्सपियर के 'ए मिडसमर नाईट ड्रीम' का 'मधुयामा का स्वप्न' शीर्षक से 'एज यू लाईक इट' का 'यह आपको जहाँ तक भाये' शीर्षक से अनुवाद किया था मोहम्मद इकबाल के 'शिकवा जवाबे शिकवा' का पद्यबद्ध हिंदी अनुवाद किया। उमर खय्याम की रुबाईयों का भी उन्होंने पद्यबद्ध भोजपुरी अनुवाद किया था। इनमें से ज़्यादातर कृतियों का प्रकाशन उन्होंने कराया था।

अभी शेक्सपियर की कृति 'त्वेल्थ नाईट' का प्रकाशन होना था। उनके महत्वपूर्ण लेखों के संग्रह 'वांग्मय विमर्श' की लिपि तैयार थी। अपने खराब स्वास्थ्य के बावजूद वे भोजपुरी अंग्रेजी हिंदी शब्दकोष के निर्माण में बहुत उत्साह से लगे हुए थे परन्तु बाद में उपयुक्त सहायता न मिल पाने के कारण उनका वह काम बीच में ही रुका हुआ था जिसकी वजह से वे मानसिक पीड़ा में थे। त्रिपाठी जी गोंडा से 'पलाश' नाम की पत्रिका का अनियतकालीन सम्पादन करते थे।

''भोजपुरिया बयार गोंडा के अंगना'' नाम से उन्होंने भोजपुरी रचनाओं का एक मोटा संकलन संपादित किया था। त्रिपाठी जी का दायरा किसी एक विधा तक सीमित नहीं था। वे बहुमुखी प्रतिभा के धनी थे। स्वयं में वे एक संस्था थे। अत्यंत हंसमुख मिलनसार व्यावहारिक होने के साथ-साथ वे स्वाध्यायी थे। वे हिन्दी संस्कृत अरबी फारसी बँगला और अनेक भाषाओं के व्याकरण जानते थे। हिंदी और अंग्रेजी के प्रकांड पंडित थे। सभी जानते हैं कि अनुवाद में मूल आत्मा को जीवित रखते हुए रचना की जीवन्तता को बनाये रखने का कार्य कितना दुरूह होता है। वे एक सच्चे और कुशल अनुवादक थे। विद्वानों की संगति उन्हें बेहद पसंद थी परन्तु स्वयं को प्रकाशित करने में कोई रुचि नहीं रखते थे। जगन्नाथ त्रिपाठी शारदेय ने महापंडित राहुल सांकृत्यायन, डाक्टर राम विलास शर्मा, डाक्टर भगवान सिंह जैसे विद्वानों से कई बार संवाद कायम किया। इन लोगों से हुई मुलाकातों कि वे अक्सर चर्चा करते थे।

अपनी जंगल की नौकरी के शुरूआती दौर में जब त्रिपाठी जी देहरादून में पोस्टेड थे तब राहुल जी मसूरी में रहते थे। वे स्वयं कहते थे कि राहुल जी मुझे बहुत मानते थे। उस समय को प्रफुल्लित होकर याद करते हुए अक्सर वे बताते थे कि किस तरह वे लगभग हर रविवार राहुल जी के घर पर होते थे और दिन का भोजन वहीं करते थे। शेक्सपियर का नाटक 'ए मिड समर नाइट्स ड्रीम' 'मधुयामा का स्वप्न' उनका प्रथम अनुवाद था जिसको उन्होंने मात्र तेईस वर्ष की अवस्था में किया था जिसकी भूमिका डाक्टर अमरनाथ झा से लिखवाने का सुझाव उनको राहुल जी ने ही दिया था। देहरादून से स्थान्तरित होने के बाद भी राहुल जी से उनका पत्र व्यवहार चलता रहा।

वे पत्र सुरक्षित उनके पास रखे हुए थे। बाद में वे कमला जी के संपर्क में भी रहे और एक बार दार्जलिंग उनसे मिलने भी गए थे।

शब्दों की व्युत्पत्ति को लेकर और अपनी जिज्ञासाओं की शांति के लिए वे डाक्टर रामविलास शर्मा से कई बार मिले थे। एक बार डाक्टर शर्मा ने उनसे कहा था 'मुझे नहीं लगता कि इस समय भाषा का आपसे बड़ा जानकार इस समय हिन्दुस्तान में होगा' यह बताते समय उनके चेहरे पर उल्लास और खुशी का गंभीर प्रवाह छलकता रहता था। डाक्टर भगवान सिंह से उनकी मुलाकात कई बार दिल्ली में हुई। लखनऊ में जब भी डाक्टर भगवान सिंह अपने भाई के घर में आये वे उनसे मिलने पहुँच गए। इन विद्वानों से हुई मुलाकातों का ज़िक्र वे बहुत ही गरिमा के साथ करते थे और स्वयं को इनके संसर्ग से कृतकृत्य मानते थे।

जीवनपर्यंत उनका स्वभाव जिज्ञासु बना रहा। बातचीत के दौरान इस बात की चर्चा भी वे किया करते थे। कुछ वर्षों पहले वे अपने अनुवाद 'शिकवा जवाबे शिकवा' का हिंदी अनुवाद श्री खुशवंत सिंह को दे आये थे। खुशवंत सिंह जी ने उसको किसी से पढ़वाकर सुना था और उसी प्रति पर i found it aqurate and pleasing. लिखकर उसकी प्रशंसा की थी।

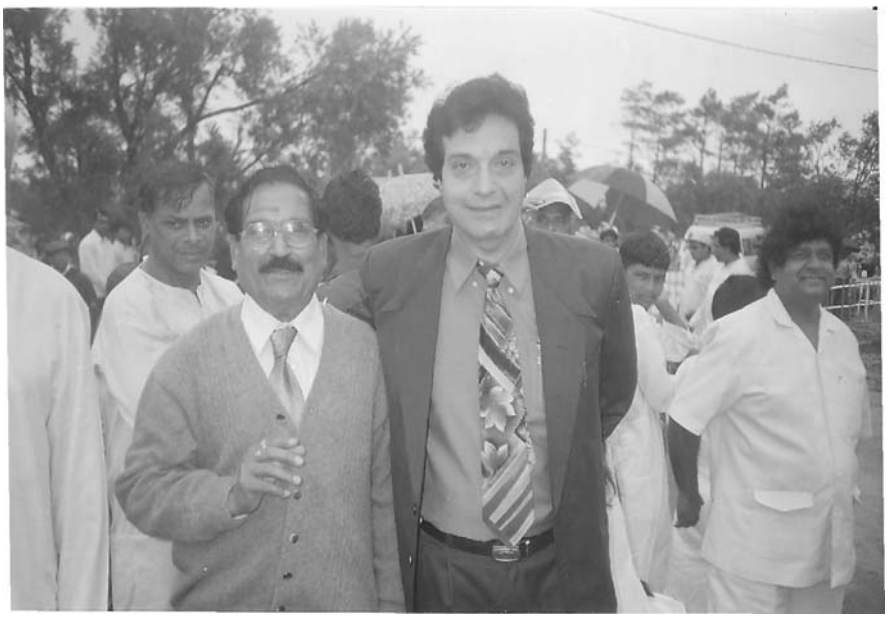

हिंदी की किसी भी पत्रिका में मेरी रचना छपती थी तो वे मुझे सबसे पहले फ़ोन करके बधाई देते थे। रात-बिरात वक़्त-बेवक्त किसी भी शब्द को लेकर कोई दिक्कत होती तो मैं उनको फ़ोन करता था और तत्काल ही मेरी परेशानी दूर होती थी। उनसे बेहिचक कुछ भी पूछ लेने में हमलोगों को कोई संकोच नहीं होता था। आत्मीय बातचीत में वे अक्सर कहा करते कि लेखन के लिए उन्हें समय कम मिला। यह भी कहते कि उन्हें किसी कालेज या विश्वविद्यालय में प्राध्यापक होना चाहिए था। यह बताने के बाद उसमें संशोधन भी स्वयं ही करते और कहते कि मुझे जो जीवन मिला उसको मैंने कायदे से जिया। मुझे किसी बात का मलाल नहीं। वैसे यदि मेरा पुनर्जन्म संभव हो तो मैं चाहूंगा कि वह भारत वर्ष में हो और मैं प्राध्यापक बनूं और लेखन करूँ। जगन्नाथ त्रिपाठी शारदेय अपने लेखन को लेकर आग्रही थे तो संकोची भी बहुत थे। अपनी कवितायें सुनाने में संकोच का अनुभव करते थे। उनसे कम रचना की पूंजी रखने वाले अतिरिक्त प्रयासों से ज़्यादा विज्ञापित हो जाते हैं। प्रचार या विज्ञापन से दूर रहना उनसे स्वभाव का अहम् हिस्सा था। वे सन दो हज़ार के आस-पास विश्व भोजपुरी सम्मेलन में भाग लेने मारीशस गए थे।

उन्होंने इस विमान यात्रा पर एक कविता लिखी है। उन्होंने लिखा था–

''नभ में यान यान में हम हैं, क्या
हम किसी विहग से कम हैं।
मारीशस का यान लेकर चला राह
अनजान
चला गगन की छाती चीर
मानों हों अभिमंत्रित तीर
या कुबेर का पुष्पक यान सागर पार
चला हनुमान
या अमोघ रघुपति का बाण करने चला
लक्ष्य संधान''

हंस, वागर्थ और हिंदी की लगभग सभी स्तरीय पत्रिकाओं के वे सजग और नियमित पाठक थे। वे फ़ौरन अपनी प्रतिक्रिया भी संपादकों को पहुंचाते थे। मैं 1996 की जुलाई में हिंदी विभाग का प्रवक्ता बनकर बलरामपुर के पोस्ट ग्रेजुएट कॉलेज में आया था वे ''99 में मुझे ढूंढ़कर मुझ से मिले। 11-12 वर्षों तक मुझे उनका साथ मिलता रहा। उनके रिश्ते के बीच किसी तरह का संकीर्ण व्यवहार या स्वार्थ प्रवेश नहीं कर पाता था। रिश्तों की गरिमा को वे बहुत महत्व देते थे। बातचीत के दौरान सामने वाले की भावना का बेहद ख्याल रखते थे। गुस्से या तनाव में मैंने उन्हें शायद ही कभी बोलते देखा हो।

एक-एक शब्द नाप तौल कर व्यक्त करना उनके स्वभाव की विशेषता थी। वे अपने मत या पक्ष को ढ ढ़ता के साथ प्रस्तुत करते थे। वे किसी बात या रचना को अपनी बुद्धि की कसौटी पर कस कर देखते थे। वे उसे आँखें मूंदकर स्वीकार नहीं करते थे। वे सेक्युलर और नेशनल समझ के रचनाकार और भाषाविद् थे। न वे अपनी बात किसी पर थोपते थे और न ही उन पर कोई बात थोपी जा सकती थी। वे संवाद स्थापित करने वाले व्यक्ति और रचनाकार थे, परंतु विवादों से बचते थे। सच किन्तु प्रिय सच के आग्रही थे। उनकी प्रिय कविता थी, 'हे काल ठहरो' इसमें एक स्थान पर वे लिखते हैं।

हे काल ठहरो। जब तलक मैं चुक न जाऊं।
पास मेरे जो बचा है जब तलक मैं दे ना पाऊँ
रिक्त होते ही तुम्हें मैं स्वयं प्रस्तुत करूँगा
मुदित मन स्मित वदन यह कहते हुए
मैं तुम्हारी ही प्रतीक्षा में खड़ा था।
आ गए तुम।

उनकी म त्यु के कुछ हफ्ते ही गुज़रे हैं उन पर लिखना बेहद कठिन है। आने वाले समय में उनके समग्र गद्य पद्य का मूल्यांकन होगा। मेरी ओर से उनकी स्म ति को शत-शत प्रणाम।

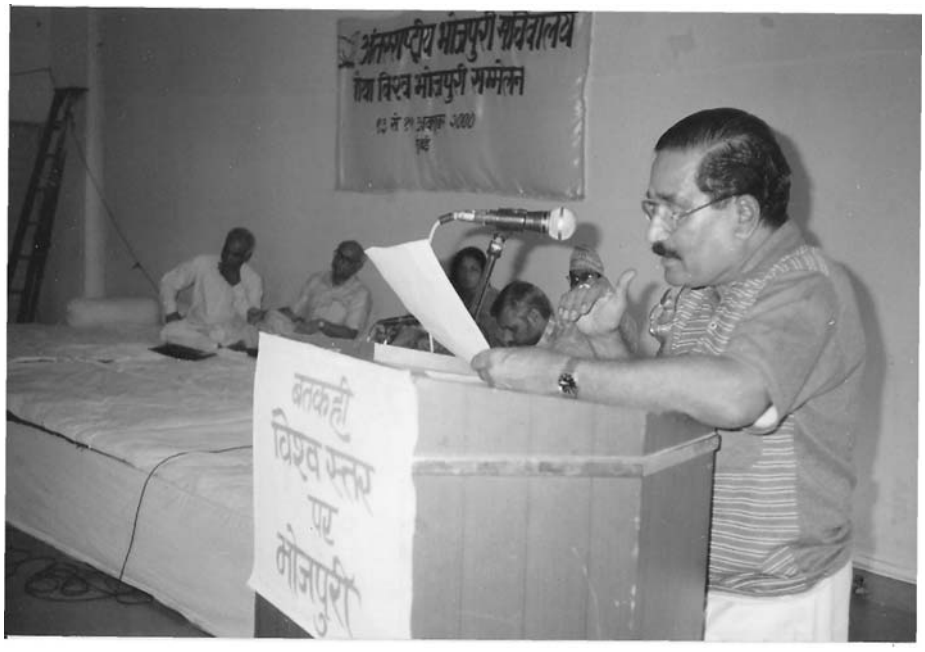

युवा कवि और आलोचक चन्द्रेश्वर एम.एल.के (पी. जी.) कालेज बलरामपुर (उ०प्र०) में हिन्दी विभाग के ऐसोसिएट प्रोफेसर हैं।

स्थायी पता : 631/58, ज्ञान विहार कालोनी कमला, चिनहत (लखनऊ) 227104

मो० नं० 9236183787

चार लघुकथाएं

न्यूज़ सेंस

आई एम वैरी सॉरी टू से मिस्टर प्रभाकर, इतने वर्षों बाद भी आप में न्यूज सेंस नाम की चीज डेवलप नहीं हो पाई है।'

'आपका ब्लेम पूरी तरह गलत है सर!'

'आपको ऐसा लगता है, प्रभाकर जी लेकिन जो न्यूज आप लेकर आते हैं उससे यही साबित होता है कि.....

'ऐसा कैसे कह सकते हैं, आप ? क्या सरेआम लड़की के साथ हुए रेप को आप न्यूज नहीं मानेंगे? क्या महंगाई के कारण अपने पूरे परिवार के साथ सुसाइड करने वाले किसान परिवार की घटना कोई ख़बर नहीं है ? क्या देश के नामचीन राजनेता के करोड़ों रु. के घोटाले का पर्दाफाश होने को आप न्यूज़ नहीं मानेंगे? अगर ये न्यूज़ नहीं है तो फिर न्यूज़ क्या है?

तभी चैम्बर में तेजी से एक अन्य जर्नलिस्ट रितेश ने प्रवेश किया, 'सर, सर.... एकदम हॉट एंड एक्सक्लुसिव न्यूज़ है....।'

''वैरी गुड रितेश, व्हाट इज़ इट...?'

'सर फिल्म एक्ट्रेस सोनालिका अपनी नेक्स्ट फिल्म में टॉपलेस सीन देने को राजी हो गई है।'

'वंडरफुल रितेश, गो एंड फाइल इट नाऊ।

एंड मिस्टर प्रभाकर, क्या अब भी आपको बताना पड़ेगा, व्हाट इज न्यूज़ सेंस....?'

विज्ञान भूषण

भविष्य फल

एक सितारा शनास के पास एक आदमी पहुंचा, तो उसका हाथ देख कर वह बोला ''तुम्हारे नक्षत्र घोर विपत्ति में हैं। अगर तुम उन्हें शान्त कराना चाहते हो तो बीस रुपये निकालो। सब ठीक हो जाएगा।''

वह आदमी दूसरे नजूमी के पास पहुंचा।

उसने दो हज़ार बताए।

वह चिन्तित हो गया।

खोज करते हुए वह देश के जाने माने रम्माल के पास पहुंचा तो उसने उससे पांच हज़ार की मांग की।

वह दुखित होकर वहां से लौट आया।

पत्नी से परामर्श करने के बाद उसने अपने मित्र से पांच हजार रुपये ऋण लिया और छोटा-मोटा व्यापार प्रारम्भ कर दिया।

कुछ दिनों के बाद उसके नक्षत्र शान्त ही नही हुए बुलंदी की ओर भी बढ़ने लगे।

डॉ० ख़ान हाफ़ीज़

प्रमाणिक प्रेम

श्रद्धा मैं तुम्हें बहुत चाहता हूँ, अपनी जान से भी ज़्यादा। तुम्हारे लिए कुछ भी कर सकता हूं। मैं यह सिद्ध भी कर सकता हूँ कि मैं तुम्हें कितना प्यार करता हूं?'

'अच्छा कैसे....?'

'मैं तुम्हारे लिए अपना घर-बार छोड़ सकता हूं। तुम्हारे लिए जान की बाजी लगा सकता हूं। किसी से भी टकरा सकता हूं। अपना सब कुछ तुम पर न्यौछावर कर सकता हूं। तुम्हारी खुशी और सुख-सुविधा के लिए पैसों का ढेर लगा सकता हूं। तुम्हारी छोटी से छोटी ख्वाहिश पूरी करने के लिए रात-दिन मेहनत कर सकता हूं। तुम्हारे कद्मों पर अपना दिल बिछा सकता हूं। तुम्हारे लिए चाँद-तारे तोड़कर ला सकता हूं। तुम्हारी राह में मौजूद हर कांटे को अपनी पलकों से हटा सकता हूं। दुनिया की बुरी नज़रों से बचाने के लिए तुम्हें अपने सीने में छिपा सकता हूं। तुम जिस कली को चाहोगी, मैं उसके सारे बगीचे को तुम्हारी खिदमत में पेश कर सकता हूं।

'अच्छा, ये बताओं तुम भी मुझे इतना ही चाहती हो, यह कैसे सिद्ध कर सकती हो?'

'मैं तो तुम्हारे कंधे पर सिर रखकर केवल जी भर कर रो सकती हूं।'

विज्ञान भूषण

गंदगी

पहले घर की गंदगी गली में फेकी जाती थी।
तब तक आस-पड़ोस के घर सुरक्षित थे।
समय आगे बढ़ता गया।
इस समय गली का कूड़ा सड़क पर फेका जाने लगा।
तो पूरा मोहल्ला गंदा हो गया।
एक अंतराल के बाद
जब शहर ने शीघ्रता से उन्नति करना प्रारंभ किया।
तो घर का कूड़ा चौराहे पर फेका जाने लगा।
उसका परिणाम यह निकला, कि सारा समाज गंदा हो गया।

डॉ० ख़ान हाफ़ीज़

कहानी

सड़क की ओर खुलता मकान

रूप सिंह चन्देल

सब कुछ बहुत रहस्यमय था– किसी प्रेत-लोक की भांति.. कल्पनातीत। कल्पना में उस मकान में डॉ. यतीश मिश्र का परिवार था। कुछ माह पहले तक उन्हीं के परिवार से सामना हुआ था। वह पुराने बाशिन्दा थे कॉलोनी के। उन्होंने तब मकान बनवा लिया था जब वहां इक्का-दुक्का मकान ही थे। कुछ खतरे थे वहां रहने के जिस कारण उन्होंने मकान को इतना सुरक्षित बनवाया कि परिन्दा भी अंदर तभी झांक सके जब डॉ. मिश्र का परिवार चाहे। सौ स्क्वायर गज में चौकोर बना उनका मकान केवल एक ओर ही खुलता था..... सड़क की ओर। बीच में आंगन. .. आंगन के तीन ओर कमरे– किचन और बाथरूम। छत पर आंगन को ढकता घना लोहे का जाल। आसमान में चमकते सूर्य की रोशनी जाल को भेदती हल्की ही आंगन में उतर पाती। मेन गेट पर लोहे का बड़ा गेट था अवश्य लेकिन वह ऊपर तक घनी चादर का बना हुआ था, अतः बाहर से भी नहीं के बराबर रोशनी अंदर दाखिल हो पाती। चैत-बैसाख के तेज घाम वाले दिनों में भी वह घर नीम अंधेरे में डूबा रहता।

डॉ. मिश्र एक राष्ट्रीय अख़बार के दफ्तर में वरिष्ठ उप-सम्पादक थे। उनके एक ही बेटा था, जिसे वह शिमला के किसी बोर्डिंग स्कूल में पढ़ा रहे थे और उनका प्रयत्न रहता कि बेटा उस घर से.... उस बस्ती से दूर रहे। बस्ती में अधिकांश अर्द्धशिक्षित या अशिक्षित लोगों का आधिक्य था। डॉ. मिश्र और उनके कुछ मित्र, जिनकी संख्या पन्द्रह के लगभग थी, और उनमें अधिकांश पत्रकार थे, किसी गलतफ़हमी के कारण वहां आ बसे थे। वहां आ बसने के बाद उन सभी पर वहां की समस्याओं के रहस्य खुलने प्रारंभ हुए थे। उन्हें बाद में बुजुर्गों की कही बात याद आयी थी कि ज़िन्दगी में दो निर्णय बहुत सोच-विचार कर करना चाहिए। एक, शादी और दूसरा मकान। बिना सोचे किए गए दोनों कामों के परिणाम प्रायः दुखदायी होते हैं। डॉ. मिश्र ने शादी सोच-विचार के बाद ही की थी, लेकिन मकान के मामले में उन्होंने गहराई से नहीं सोचा था। किसी मित्र के सुझाव पर ज़मीन लेकर झटपट मकान बनवा लिया था।

लेकिन वह इस बात को ख़ारिज कर देते रहे कि उन्होंने सोचा नहीं था। सोचा अवश्य था लेकिन मध्यवर्ग व्यक्ति के पास इतने सीमित विकल्प होते हैं कि वह सोच भले ही ले करना उसे वही होता है जिसके लिए उसकी जेब अनुमति देती है। जब जमीन खरीदी और मकान बनवाया तब वह उप-सम्पादक थे... डेस्क पर काम करने वाले उप-सम्पादक। रिपोर्टर होते तब शायद वह स्थिति न होती। सूखी तनख्वाह... घर भी पैसे भेजने होते।

परिचय–

नाम : रूपसिंह चन्देल
जन्म : 12 मार्च, 1951 को कानपुर (उ०प्र०) के गांव नौगवां (गौतम) में हुआ।
शिक्षा : कानपुर वि.व. से हिन्दी में पी-एच.डी.
प्रकाशित : कृतियाँ : अब तक 43 पुस्तकें प्रकाशित, जिनमें 7 उपन्यास, 12 कहानी संग्रह, 3 किशोर उपन्यास, 10 बाल कहानी संग्रह सहित यात्रा-संस्मरण, आलोचना, लघुकथा संग्रह, संस्मरण, जीवनी (दॉस्तोएव्हकी के प्रेम) आदि सम्मिलित। उपन्यासों में 'पाथर टीला' 'रमला बहू', 'नटसार', और 'शहर गवाह है' चर्चित।
सम्प्रति : स्वतंत्र लेखन
सम्पर्क : बी-3/230, सादतपुर विस्तार, दिल्ली 110098
मो० नं० : 0981083095

उस पर मकान मालिक का सिर पर बजता डंडा। हर साल बढ़ता किराया.... उन्हें उससे मुक्ति चाहिए थी। मकान मालिक के चेहरे से ही वह भय खाते थे। भले ही वह सीधा-सरल मकान मालिक ही क्यों न रहा हो। उन स्थितियों ने उन्हें अधिक सोचने का अवसर नहीं दिया। पत्नी के जेवर बेच ज़मीन खरीदी और दफ़्तर से लोन लेकर लस्टम-पस्टम मकान बनवाया। धीरे-धीरे वह उसे इतना सुरक्षात्मक बनाते गए कि यही भूल गए कि आंगन में धूप और हवा भी चाहिए होती है। डॉ. मिश्र ने अपने अनेक मित्रों को वहां के खुले.. प्रदूषण रहित वातावरण का ऐसा खाका खींचा कि कई मित्र वहां दौड़े चले आए थे।

वह भी उनमें से एक थे।

**

डॉ. मिश्र के ठीक सामने उन्होंने प्लॉट लिया। दोनों के प्लॉट के बीच बीस फिट चौड़ी सड़क थी। प्लॉट का घेरा करवाया और उसे छोड़ दिया। सरकारी कर्मचारी थे और आर.के.पुरम के सरकारी मकान की सुविधा भोग रहे थे। दोनों बच्चे वहां डी.पी. एस. में पढ़ रहे थे। दफ़्तर भी आर.के.पुरम में... जिसकी दूरी उस बस्ती से तीस किलोमीटर थी। उन्होंने वहां शिफ़्ट न करने का निर्णय किया, लेकिन मकान मालिक बनने का स्वप्न वह अवश्य देखने लगे। जब भी किसी कार्यक्रम में उस बस्ती का कोई परिचित मिलता, ''कब आ रहे हैं विशाल जी?'' की टेर छेड़ता और वह बच्चों की पढ़ाई का वास्ता दे बच निकलते। लेकिन एक दिन मकान मालिक बनने के उत्साह ने ऐसा उफान मारा कि फण्ड खाली कर दिया और मकान बनाने का ठेका दे दिया।

छः महीनों में पहला हिस्सा बनकर तैयार हो गया। बच्चों सहित

वह दो दिन आकर रहे। डॉ. मिश्र के घर से लंबा तार डालकर बिजली उधार ली, जिससे एक बल्ब और एक पंखा चलाया। लेकिन मच्छरों ने रात भर नादिरशाही आक्रमण जारी रखा और दो रातें काटनी कठिन कर दीं। उन्होंने शेष बचे पोर्शन को न बनवाने का निर्णय किया, लेकिन निर्णय का निर्वाह नहीं कर पाए, क्योंकि डॉ. मिश्र की भांति वह भी सामान्य पदधारी थे और उनका पद इस सभ्य देश की असभ्य परम्परा से अछूता था। अछूता न भी होता तब भी अतिरिक्त कमाई उनके वश में न थी। अस्तु शेष मकान भी बना और रिटायर्ड भी हो गए। बच्चे उनके रिटायर होने से पहले मुम्बई और बंगलौर जा चुके थे।

पूरा मकान उन्होंने बनवा अवश्य लिया था लेकिन वहां रहने आने के लिए वह रिटायरमेण्ट की प्रतीक्षा करते रहे थे। चार-छः महीनों में किसी अवकाश के दिन वह मकान देखने आ जाते। दिन भर रहते और उसका आधा समय वह डॉ. मिश्र के साथ बिताते... या कभी किसी अन्य मित्र के यहां चले जाते। डॉ. मिश्र का बेटा भी एम.बी.ए. करने के बाद किसी बहुराष्ट्रीय कंपनी में सिंगापुर में नौकरी करने लगा था।

जब वह आख़िरी बार डॉ. मिश्र से मिले, उन्हें कुछ उलझन में पाया था। कारण पूछने पर वह बोले थे, ''अब बस्ती का माहौल बदल गया है विशाल जी.... आबादी बढ़ गयी है। एक समय था जब हमारे लोगों की इज़्ज़त थी.... जो यहां के पुराने बाशिन्दे थे.... इज्जत करते थे, लेकिन अब. ....। यहां जमीन सस्ती होने के कारण कितने ही चोर-उचक्के.... उठाईगीर किस्म के लोगों ने मकान बना लिए हैं। हर गली में दो-चार प्रापर्टी डीलर बैठे दिख जाएंगे. ... सड़कों पर मंडराते आवारा लड़के... चेन स्नैचिंग की बढ़ती घटनाएं.... बिल्कुल बदल गयी है यह बस्ती।''

''अपने काम से काम रखें डॉ. मिश्र।'' मन के अंदर घबड़ाहट अनुभव करते हुए उन्होंने उन्हें दिलासा दिया था।

**

रिटायर होने के छः महीने बाद उन्होंने शिफ्ट किया। इस दौरान बस्ती और अधिक बदल गयी थी। उन्हें धक्का लगा था, लेकिन इससे बड़ा धक्का उन्हें इस बात से लगा कि डॉ. यतीश मिश्र वहां से जा चुके थे। घर के बाहर उनके नाम के बोर्ड के स्थान पर लिखा था 'आलोक निवास'।

आश्चर्य था, जिस घर में आलोक के चिन्ह टार्च लगाकर खोजने होते उसका नाम 'आलोक निवास'। लेकिन उससे भी बड़ा आश्चर्य यह देख हुआ उन्हें कि उस आलोक निवास के नीम अंधेरे आंगन में काले कच्छों में कई छायाएं डोलती दिखतीं।

'क्या यहां अब भूत रह रहे हैं?' छज्जे पर खड़े हो उन नंग-धड़ंग छायाओं को देखते हुए उन्होंने एक दिन सोचा। वे चार थे और चारों के बदन में केवल कच्छे थे.... काले रंग के.... वह भी इतने छोटे कि मामूली लापरवाही में उनके आदिममानव में परिवर्तित होने में बिल्कुल समय नहीं लगता।

चारों एक कमरे से दूसरे में आ-जा रहे थे। कभी कोई आंगन में बने वॉशबेसिन में झुका नज़र आता। उनके चेहरों पर उदबिलाव जैसी आंखें थीं, जो कभी-कभी उनकी ओर उठ जातीं। कुछ देर बाद एक कमरे से एक ब्लाउज-पेटीकोट नमूदार हुआ। वह पांच फिट तीन इंच के लगभग भारी डील-डौल वाली (जिसे देखकर हिडंबा की कल्पना सहज ही उनके मस्तिष्क में उभर आयी थी) पचपन पार थी। उन्होंने कुछ और गंभीरता से नज़रें गड़ाकर देखा। उसने पेटीकोट पर तौलिया लपेट रखा था।

कुछ देर बाद एक थाली में कुछ छोटे बर्तन सजा उसे छत पर जाते उन्होंने देखा। जीना चढ़ते हुए उसने भी उनकी ओर देखा। अब वह निपट उजाले में थी। उसका मुंह चौड़ा, नाक मोटी, भौंहें घनी, शरीर का मांस सांवला-पथरावा हुआ और हिप भारी थे। छत पर उसने दो-तीन स्थानों पर छोटे बर्तनों से पानी गिराया। कुछ देर कुछ बुदबुदाती रही, फिर सूर्य की ओर हाथ जोड़ कंक्रीट को छूकर पलट पड़ी। अब वह उनके सामने थी। उसने एक बार फिर उन पर नजरें डालीं। वह भैंगी थी। देख उन्हें रही थी, लेकिन उन्हें लग रहा था कि वह दूसरी छत की ओर देख रही थी।

''बेचारी, आलोक निवास में शायद आलोक पहुंचने की प्रार्थना करने गयी थी।'' उन्होंने सोचा।

**

उस महिला के आंगन में पहुंचते ही चारों कच्छे उसके इर्द-गिर्द एकत्र हो गए। तीन युवा थे और एक उस महिला की उम्र का था।

''उसका पति होगा।'' उन्होंने सोचा।

पांच मिनट भी नहीं बीते कि चारों कच्छे एक-दूसरे पर चीखने लगे थे। बीच-बीच में उस महिला की आवाज़ भी सुनाई दे रही थी। वह छज्जे से कमरे की ओर खिसक गए। पत्नी भी आ गई, ''कौन-किससे लड़ रहा है?''

''सामने वाले मकान में कच्छे लड़ रहे हैं।''

''कच्छे ?'' पत्नी चौंकी।

''वे चारों केवल कच्छों में हैं.....।''

पत्नी छज्जे पर चली गई, लेकिन तुरंत पलट पड़ी, ''बेशर्म हैं।'' वह बुदबुदाई, ''गलत आ गए, लेकिन ये डॉ. मिश्र कहां गए?''

''मकान बेचकर बेटे के पास चले गए।''

''कैसे लोग हैं!'' पत्नी एक बार पुनः छज्जे पर जा खड़ी हुई, ''एक रुपए को लेकर लड़ रहे हैं। बुड्ढा किसी बेटे से एक रुपया मांग रहा है। वह दूसरे और दूसरा तीसरे की ओर बात धकेल दे रहा है।''

''एक रुपया?''

''वही मैं समझ पा रही हूं।''

''तुम वहां मत रुको। उनका आपसी मामला है। टोक देंगे तब बुरा लगेगा।''

''तुम भी कमरे का दरवाजा बंद करो। ये आवाजें बुरी लग रही हैं।'' पत्नी कमरे में आ गयी और उन्हें अवसर न दे स्वयं ही दरवाजा बंद कर दिया।

**

प्रतिदिन सुबह छः बजे के बाद वे कच्छाधारी भूतों की भांति कमरों से आंगन में टहलते या एक कमरे से दूसरे में आते-जाते दिखाई देते। औरत नियम के साथ छत पर साढ़े छः बजे के लगभग पूजा करने जाती। उस समय वह ब्लाउज और पेटीकोट में होती

और पेटीकोट पर मोटा तौलिया लपेटे होती। जब वह नीचे आती कच्छाधारी एक-दो रुपयों के लिए लड़ रहे होते। कभी-कभी वह भी लड़ाई में शामिल हो जाती। शोर सड़क पर बह आता। आते-जाते लोगों के पैर ठिठक जाते, लेकिन अंदर का द श्य कोई देख नहीं पाता। वह अपने छज्जे से उस घर के गेट के ऊपर लगे जंगले से आधा-अधूरा देखे लेते।

आधा घण्टा बाद अंदर का युद्ध थम जाता। औरत भदेस साड़ी में लिपटी आध ा मेन गेट खोल सड़क पर उतरती। उसके कंधे से चमड़े का एक बैग झूल रहा होता। उस समय वह प्राइमरी की अध्यापिका नज़र आती। थी भी शायद। गठिया पीड़ित महिलाओं की भांति वह असंतुलित कदमों से ऑटो या बस पकड़ने के लिए जाती, लेकिन सड़क पर नीचे उतरने से पहले कच्छाधारी पति को ताकीद करती, ''गेट ठीक से बंद कर लो जी।''

''जी मैडम।'' पत्नी सीढ़ियां उतर रही होती और उस अधखुले मेन गेट पर उसका पति उसे विदा करता, ''ओ.के. डियर.....टा-टा. .. बॉय-बॉय..... देख के..... संभर के... सीढ़ियों से लुढ़क न जाना।''

पत्नी बिजली के खंभे के निकट पहुंच ठिठकती, पीछे मुड़कर देखती और वहीं से चीखकर कहती, ''गेट ठीक से बंद कर लो जी।''

औरत के जाने के एक घण्टे के अंदर उसके तीनों बेटे एक-एक कर निकलते और सड़क पर तेज़ी से लपक जाते। उस समय यह सोचना कठिन होता कि कुछ समय पहले वे नंग-धड़ंग कच्छाधारी जीव थे।

घर में बचता पति, जो दस बजे तक उसी परिधान में रहता। कभी वह वाइपर से आंगन साफ़ करता दिखता तो कभी कपड़े धोने की आवाज़ आती। सभी के जाने के एक घण्टा बाद वह छत में कपड़े फैला रहा होता.... लेकिन होता तब भी कच्छे में और नंगे बदन। छः बजे के लगभग कुर्ता-पायजाता में वह घर में ताला बंद करता दिखाई देता।

''कहीं काम पर जा रहा होगा।'' उन्होंने उस दिन सोचा था। लेकिन उनका भ्रम टूट गया था। घण्टा-डेढ़ घण्टा बाद वह किसी के साथ किसी प्रापर्टी के खरीद फ़रोख़्त और अपने कमीशन को लेकर बहस करता घर लौट आया था। उस समय उसकी आवाज़ ऊंची थी.... एक प्रकार से वह उस व्यक्ति से लड़ रहा था।

कुछ दिन ही बीते थे कि एक दिन उस मकान पर उन्हें एक बोर्ड लटका दिखा। लिखा था 'भगीरथी प्रापर्टीज'।

उस दिन वह छज्जे पर खड़े अख़बार वाले के आने की प्रतीक्षा कर रहे थे। सामने वाले घर की औरत सीढ़ियां उतर रही थी और कच्छाधारी उसका पति उसे विदा कर रहा था कि तभी उसकी उन पर नज़र पड़ी।

''नमस्ते भाई साहब।'' गेट की ओट में अपना कच्छा छुपाता वह बोला।

''नमस्कार।'' बेमन वह बोले और पलटने लगे, 'इस आदमी से संवाद नहीं करना' सोचते हुए।

''आप नए आए हैं।'' वह परिचय कर लेने पर तुला हुआ था।

''जी।''

''मुझे वर्मा कहते हैं.... कंचन कुमार वर्मा।''

''जी, शुक्रिया।''

''भगीरथी प्रापर्टीज''.... में बैठता हूं। मेरा ही ऑफ़िस है। इसी गली में आख़ीर में... कभी पधारें.....।''

''जी.....।'' वह फिर पलटने लगे कि वह बोला, ''कभी कोई सेवा हो..... कोई प्रापर्टी खरीद-फ़रोख़्त करनी..... आप बेझिझक कहेंगे... दूसरों की अपेक्षा कम कमीशन लूंगा।''

''मिश्रा जी आपकी बहुत तारीफ़ करते थे।'' वह कमरे की ओर हट ही थे कि बातचीत का सूत्र न छेड़ते हुए उसने जोड़ा था।

लेकिन बिना उत्तर दिए वह कमरे में आ गए थे।

**

बड़ा कच्छा अब मोहल्ले में घुलने मिलने लगा था।

महीना भी नहीं बीता कि एक रात घण्टी बजी। वह प्रथम तल पर रहते थे और भूतल खाली था। खाली इसलिए था क्योंकि उन्हें प्रथम तल में रहना पसंद था। भूतल की अपेक्षा वहां उन्हें खुलापन मिलता, जिसके वह आदी थे।

उन्होंने छज्जे पर से झांक कर देखा। वर्मा गेट से सटा हुआ खड़ा था।

''यस प्लीज!'' उन्होंने ऊपर से हांक दी।

''भाई साहब..... एक मिनट.....।'' वर्मा अपनी औकात में, केवल कच्छे में.... काले रंग के कच्छे में.... ऊपर की ओर मुंह उठाए उन्हें नीचे बुला रहा था। उन्हें उबकाई आई। बुदबुदाए, 'शर्म नहीं आती.... अपना घर समझा है... जैसा घर में रहता है.... अड़ोस-पड़ोस में भी वैसा ही घूमता है।'' बुदबुदाते हुए वह सीढ़ियां उतरे।

गेट खोल वह बाहर निकलने लगे, लेकिन वर्मा ने उन्हें बाहर निकलने का अवसर नहीं दिया। उनके गेट खोलते ही वह बरामदे में धंस आया।

निपट नंगे बदन वह उनके सामने था। एक बार फिर उन्हें उबकाई उठी, लेकिन उन्होंने उसे दबा दिया।

''भाई साहब, आप बुरा नहीं मानेंगे।'' कच्छा हाथ मलता बरामदे के अंधेरे में अपने को छुपाने का प्रयत्न कर रहा था। उनका मन हुआ कि वह मेन गेट पूरी तरह खोल दें और बरामदे की लाइट जला दें जिससे सड़क पर गुजरते लोग उसकी औकात देख लें।

'लेकिन अब यह कोई रहस्य नहीं रहा। परिवार 'कच्छाधर' के नाम से बस्ती में विख्यात है। बल्कि जब भी बस्ती का कोई उनसे उनके मकान का भूगोल जानना चाहता और वह उसे गली, उपगली समझाने लगते, वह व्यक्ति तपाक से बोल पड़ता, ''तो आप कच्छाघर वाली गली में रहते हैं?''

उस घर में डॉ. यतीश मिश्र का नाम पूरी तरह धुल-पुंछ गया था।

''आप बुरा तो नहीं मानेंगे.... भाई साहब।'' उनकी चुप्पी पर वह पुनः मिनमिनाया।

''यह तो आपकी बात पर निर्भर होगा।''

''सोलह आना पते की बात कही आपने।'' वह हिनहिनाया, ''बात कुछ ऐसी ही है.... आप बुरा मान सकते हैं..... पड़ोसियों को मैं नाराज़ नहीं देख सकता, लेकिन जो जानकारी मिली उसे दरियाफ़्त करना भी पड़ोसी-धर्म मानता हूं.... आखिर आप मेरे सबसे निकट पड़ोसी जो हैं।''

''बात क्या है?''

उनके स्वर में उससे जल्दी मुक्ति पा लेने का भाव था।

''बात..... बात... हिं... हिं मैं नहीं कह रहा भाई साहब.... मेरे एक परिचित ने कहा... . सो पूछने की गुस्ताख़ी कर रहा हूं। मेरे मन में आप और मैडम के प्रति बहुत आदर है, क्योंकि डॉ. यतीश मिश्र ने....।''

''आप मूल मुद्दे पर आएं मि. वर्मा.....बात क्या है?'' उन्होंने स्वयं अपने स्वर में रूखापन अनुभव किया।

''कोई कह रहा था कि आप अपना मकान बेच रहे हैं।''

''किसने कहा?'' उनका स्वर उत्तेजित था।

''हैं एक मित्र.....।''

''कौन है वह..... किस आधार पर कहा उसने?''

''आधार तो पता नहीं.... कल ही उसने कहा।''

वह क्षणभर तक अंधेरे में उनकी ओर ताकता रहा। उन्होंने गेट से बाहर झांककर देखा। उसका गेट आधा खुला हुआ था और उसके आंगन में तीन कच्छे टहल रहे थे। उसकी पत्नी पेटीकोट में गेट पर उनके घर की ओर कान लगाए खड़ी थी।

''उसने आपको गलत सूचना दी..... मैंने बेचने के लिए मकान नहीं बनवाया जनाब।''

''वह तो मैं भी जानता हूं भाई साहब, लेकिन कभी-कभी ऐसा होता है।''

''आपका मतलब?''

''यही कि आदमी सोचता कुछ है और होता कुछ है।'' उसके स्वर में ढिठाई स्पष्ट थी, ''अब डॉ. मिश्र ने भी नहीं सोचा था, लेकिन....।''

''आप कहना क्या चाहते हैं?'' उनका स्वर उग्र था। वह उसे धक्का देकर गेट से बाहर निकालने के विषय में सोचने लगे, लेकिन कुछ सोचकर रुक गए।

''यही कि कुछ महीनों से मैं प्रापर्टी डीलिंग कर रहा हूं.... आप जब भी कभी वैसा मन बनाएं..... मुझे न भूलें। सही ग्राहक और दाम दिलवाऊंगा और.....।''

''आपकी बात ख़त्म हो गयी?'' उसकी बात बीच में काट वह ऊंचे स्वर, लगभग चीखते-से बोले।

''जी भाई साहब.....।'' उनके भाव समझ कच्छा गेट से बाहर जाने लगा। उसकी पत्नी अपने गेट पर यथावत खड़ी थी।

''लगता है आप सच ही बुरा मान गए?'' सड़क पर उतरकर वह बोला।

उन्होंने उसकी बात पर ध्यान नहीं दिया। धड़ाम की आवाज़ के साथ गेट बंद किया और पैर पटकते बुदबुदाते हुए प्रथम तल की सीढ़ियां चढ़ने लगे।

''कौन था?'' ऊपर पहुंचने पर पत्नी ने अलस भाव से पूछा।

''तुम सोयी नहीं?''

''कोशिश कर रही थी..... तभी तुम्हारी ऊंची आवाज सुनाई दी..... नीचे आने ही वाली थी.... कौन था?

''बच्चों से बात हुई?'' उन्होंने बात टालने की द ष्टि से पूछा।

''नेटवर्क प्राब्लम है। दोनों के मोबाइल नंबर नहीं मिल रहे।''

''मैं कोशिश करके देख लूंगा। तुम सो रहो।''

और मोबाइल लेकर वह दरवाज़ा खोल छत पर चले गए वहां टहलते हुए अपने को प्रकृतिस्थ करने के लिए।

**

कुछ महीनों में ही वर्मा के पास सुबह सात बजे के बाद लोगों का आवागमन प्रारंभ हो गया था। बस्ती का तेज़ी से विस्तार हो रहा था। नए लोग आ रहे थे, कुछ पुराने जा रहे थे या जिन्होंने कमाई की द ष्टि से अधिक जमीनें ले रखीं थी..... उन्होंने बेचना प्रारंभ कर दिया था।

जब भी वह एक प्लॉट का सौदा करवा देता, कई दिनों तक उससे मिले कमीशन की चर्चा करता अपने दूसरे ग्राहकों से। पत्नी और बेटों के जाने के बाद काम करते हुए अब वह ऊँची आवाज़े में भद्दे फिल्मी गाने गाने लगा था। ग्राहकों के आने पर भी सुबह दस बजे से पहले तक वह नंगे बदन केवल कच्छे में रहता। ग्राहक उसके साथ खड़ा-बैठा-टहलता बातें करता रहता और वह अपने कामों में व्यस्त रहता। उसकी ऊंची आवाज आंगन के जाल और गेट की जालियों के रास्ते सड़क पारकर उन तक पहुंचती रहती।

उस दिन के बाद वह जब भी सामने पड़ता हुलस कर नमस्ते करता, ''भाई साहब राम-राम। कैसे हो?''

वह बुदबुदाकर रह जाते। मन नहीं होता उस व्यक्ति के नमस्ते का उत्तर देने का। उसे प्रापर्टी डीलिंग के काम में अधिक समय नहीं बीता था कि एक दिन वह हादसा हो गुजरा था। उन्हें पता भी नहीं चलता यदि लोगों का शोर उसके दरवाज़े न होता। बढ़ती भीड़ देख वह भी अपने को नीचे जाने से रोक नहीं सके।

''वर्मा जी जल्दी में थे.....।'' भीड़ में एक बोला।

''जल्दी में?.... कहीं जा रहे थे... किसी से टकरा गए थे?'' दूसरा पहले वाले से पूछ रहा था।

''जल्दी यानी जल्दी.....।'' पहले वाला कुछ झुंझला उठा। शायद वह ठीक से बात कह नहीं पा रहा था।

''मतलब?''

''अरे यार, करोड़पति बनने की जल्दी में

थे। जिस-तिस के घर का दरवाज़ा खटखटा देते और मकान मालिक के आने पर बड़े भोलेपन से पूछते कि किसी ने उन्हें बताया है कि वह अपना मकान बेच रहे हैं।''

''ओह।''

''कमीशन का चस्का..... लेकिन सभी एक जैसे नहीं होते। सभी हाथ जोड़कर उन्हें विदा कर देते रहे। एक दिन मेरे घर भी आ पहुंचे थे। मैंने भी हाथ जोड़ दिए.... लेकिन....।'' सुनने वाले की उत्सुकता तीव्र हो उठी थी।

''लेकिन क्या.....?''

''आज शाम को जा पहुंचे चौधरी दिलावर के घर। वह पीकर टुन्न था। उससे भी वही प्रश्न। अब बताओ.... इसे इतनी अकल नहीं कि ये चौधरी यहां के पुराने बाशिन्दा हैं..... ये अपनी जान से अधिक अपनी ड्योढ़ी को प्यार करते हैं।'' सुनने वाला सांस रोके सुन रहा था। भीड़ में से कुछ और लोग भी उसके इर्द-गिर्द आ इकट्ठा हुए।

''फिर.....?'' बात बीच में ठहरी जान सुनने वाले ने उत्सुकता प्रकट की।

''फिर क्या, इसके मुंह से मकान बेचने की बात निकली ही थी कि चौधरी दिलावर का मज़बूत हाथ इसके जबड़े पर पड़ा। सामने के कई दांत टूट गए। मुंह से खून निकलने लगा, लेकिन दिलावर को रहम नहीं था। इसने उसकी डयोढ़ी के सौदे की बात की थी.... ड्योढ़ी यानी उसकी मां। यह इसका दुर्भाग्य था कि न उस समय दिलावर के घर कोई था और न सड़क पर कोई प्रकट हुआ। उसके एक-एक हाथ पर यह धराशायी होता रहा। वह इसे उठाता. ..... खड़ा करता फिर ऐसी चोट करता कि यह बिलबिला कर पसर जाता। यह चीख रहा था, लेकिन वहां इसकी आवाज़ सुनने वाला कोई नहीं था। थक जाने तक या यूं कहें कि नशा दूर हो जाने तक दिलावर इसे पीटता रहा। पिटते हुए यह बेहोश हो गया। दिलावर ने इसे कंधे पर लादा और दो गली छोड़कर कूड़े के ढेर के पास अंधेरे में पटक दिया।''

''फिर?'' कई अधीर स्वर एक साथ उभरे।

''किसी परिचित की नज़र पड़ी..... उसने इसके घर सूचना दी। इसके बेटे कच्छों में, जैसे कि घर में रहते हैं और पत्नी पेटीकोट में दौड़ गए। चारपाई पर डालकर उठा लाए।''

तभी भीड़ में हड़बड़ाहट हुई। शोर उठा, ''पुलिस आ गई...पुलिस.....।'' भीड़ इधर-उधर खिसकने लगी।

पुलिस की गाड़ी हार्न बजाती कच्छाघर की ओर दौड़ती हुई आ रही थी।

● ● ●

उसके दुखी रहने और एकान्त में रोने को देखते हुए उसकी नौकरानी ने उसे बताया कि एक अन्य लड़की में भी ऐसे सारे लक्षण उसने देखे थे। पर विवाह के बाद उसकी यह बीमारी जाती रही थी। एम्मा ने उत्तर दिया– मुझे यह विवाह के बाद हुआ है।

मैडम बोवेरी : गुस्ताव फ्लॉबेयर

अरु पब्लिकेशन्स द्वारा प्रकाशित सर्वश्रेष्ठ पुस्तकें

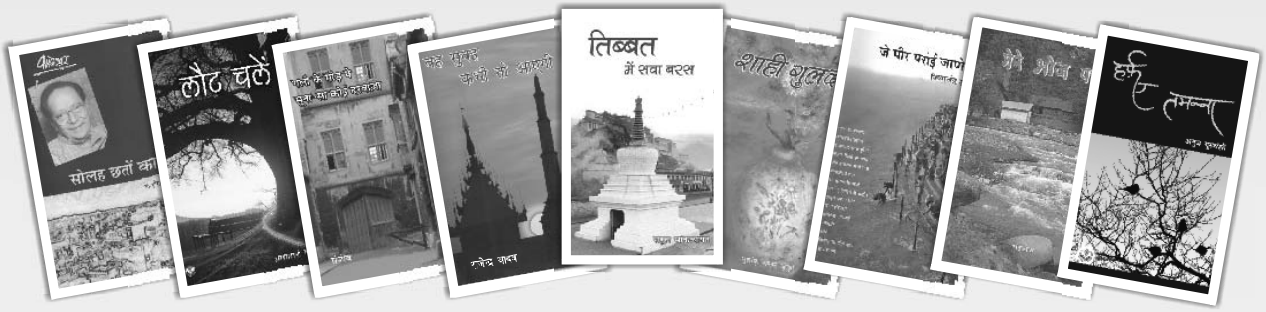

क्र०सं०	पुस्तक का नाम	लेखक	मूल्य
1.	साँवली चाँदनी रात (कहानी-संग्रह)	गुलज़ार	150/-
2.	वह सुबह कभी तो आएगी (सांप्रदायिक-विमर्श)	राजेन्द्र यादव	275/-
3.	तिब्बत में सवा बरस (यात्रा-वृतांत)	राहुल सांकृत्यायन	325/-
4.	सोलह छतों का घर (कहानी-संग्रह)	कमलेश्वर	250/-
5.	गली के मोड़ पे सूना-सा कोई दरवाज़ा (कहानी-संग्रह)	संजीव	250/-
6.	शाही गुलदान (कहानी-संग्रह)	मुशर्रफ़ आलम ज़ौक़ी	250/-
7.	कुदरत की गोद में (कहानी-संग्रह)	विद्यासागर नौटियाल	200/-
8.	जे पीर पराई जाणे रे (संस्मरण)	विष्णुचंद्र शर्मा	200/-
9.	मेरे भोज पत्र (आलेख/संस्मरण)	चंद्रकांता	200/-
10.	अंतिम सत्याग्रही (उपन्यास)	राजेन्द्र मोहन भटनागर	175/-
11.	रास्ता यह भी है (उपन्यास)	राजेन्द्र मोहन भटनागर	200/-
12.	इंतज़ार (कहानी-संग्रह)	कृष्णबिहारी	225/-
13.	स्वेत...स्याम...रतनार... (कहानी-संग्रह)	कृष्णबिहारी	175/-
14.	बेघर आँखें (कहानी-संग्रह)	तेजेन्द्र शर्मा	200/-
15.	सोनपरी का तीसरा अध्याय (कहानी-संग्रह)	गोविंद उपाध्याय	175/-
16.	और अंत में एक बारीक-सा परदा (कहानी-संग्रह)	उषा ओझा	225/-
17.	काली बिल्ली (कहानी-संग्रह)	अमरीक सिंह दीप	175/-
18.	पीपल के फूल (कहानी-संग्रह)	चरणसिंह पथिक	175/-
19.	खुलानी (उपन्यास)	निधि सिंह	150/-
20.	कुर्बानी रंग लाएगी (बाल-मंचीय नाटक)	सुधा शर्मा 'पुष्प'	150/-
21.	एक क़तरा बारिश (उपन्यास)	मुकेश धस्माना	225/-
22.	कहीं कोई अब भी है (उपन्यास)	अमर सिंह कम्बोज	175/-
23.	हर्फ़-ए-तमन्ना (गज़ल-संग्रह)	अनुज गुरुवंशी	225/-
24.	ख़्वाब-ए-रौशन (गज़ल-संग्रह)	तारा चंद रौशन	250/-
25.	लौट चलें (कहानी-संग्रह)	आशारानी लाल	175/-
26.	हम सब बच्चे बने महान (बाल-कविता)	राजकुमार सचान 'होरी'	125/-
27.	बासठ मोती (प्रेरक कथा-संग्रह)	भोला दत्त जोशी	100/-
28.	संचेतना (एक जागरुक पालन-पोषण)	ऋचा सूद	100/-

अरु पब्लिकेशन्स प्रा०लि०
(सरस्वती समूह)
9, दरियागंज, टेलीफोन ऑफिस के पास, नई दिल्ली-110002 (भारत)
दूरभाष : 011-64140001, 43556600 फैक्स : 011-43556688
ई-मेल : aroo@saraswatihouse.com

कहानी

असमाप्त

उर्मिला शिरीष

जब हमीद लैंगड़ा ट्रक-पाना उठाकर उसकी माँ बहिन से रिश्ता जोड़ता तब-तब उसके तन-बदन में आग लग जाती। हालांकि ऊपर से तो वह कुछ न कहता– क्योंकि यह उसकी विवशता थी– न अपना क्षोभ व्यक्त करता न ही जवाब देता। जवाब देने का मतलब होगा उसी स्तर पर उतरकर माँ-बहन की गालियां देना। पर मन ही मन वह स्वयं से वायदा करता कि आज रात इस अधेड़ लंगड़े की ज़बान हमेशा-हमेशा के लिए बंद कर देगा। हमीद लंगड़ा की गंदी और अश्लील जुबान सुनकर ऐसा क्रूर विचार उसके मन में पहली बार नहीं आया था और न ही इस दुनिया में उसकी माँ-बहन थी– उसे तो माँ की सूरत तक याद नहीं है– पर मां के नाम पर ऐसी असहनीय गालियां सुनना, उसके मर्द होने की चुनौती देता था। ये क्षत-विक्षत करने वाली गालियां उसे उकसाती थी। उसकी आत्मा को तिलमिला देती थी। वह गुस्से में बिफ़रता हुआ चीजें पटकता-फेंकता। और कुछ न बनता तो अपना गुस्सा पास बैठे कुत्ते पर निकालता। उसके दुःख, क्षोभ, संताप और तिलमिलाहट से बेखबर हमीद लंगड़ा की काली जुबान लगातार चलती रहती। उन तमाम घिन पैदा करने वाली गालियों और कटाक्षों के बीच उसे एक वाक्यबाण सनसनाता हुआ चुभकर घायल कर देता, वह यह कि हमीद लंगड़ा देसी शराब का अड्डा गुटकते हुए उससे कहता आया है। ''हरामजादे! सुन, अगर मैं तुझे मक्सी स्टेशन से उठाकर नहीं लाया होता तो पता नहीं किस स्टेशन के लिए तेरी बुकिंग हो गयी होती।'' यह उसका तकिया कलाम भी था। यह वाक्य बेनागा उसे जलील करने की आदत में शुमार हो गया था। उसे डराने-दबाने और अपनी हैसियत जताने का तरीका भी बन गया था। सुनने वाले गाहे-बगाहे उससे कहते भी कि 'तू क्यों कुत्ते की तरह लातें खा रहा है। इतना काम तू कहीं भी करेगा तो पेट भर ही जायेगा। ये तेरा सगा नहीं है। वक़्त आने पर दूध की मक्खी की तरह निकाल फेकेगा। यह आदमी महाक मीना है। वक़्त रहते तू अपना काम धंधा अलग कर ले।'' पर वह अपने काम में जुनून की हद तक डूबा रहता। उसका गुस्सा, उसकी प्रतिज्ञा, उसकी सोच, उसकी हृदय विदारक पीड़ा और सब को छोड़-छाड़कर भाग जाने की बात पानी के बुलबुले की तरह फूट जाती। हमीद लंगड़ा के साथ जैसा भी रिश्ता था, वह तो था ही, एक दूसरे रिश्ते ने उसकी अंतरात्मा को बांध रखा था अर्थात्, फरीदा ने उसे बचपन से ही अपनी छाती से लगा लिया था। उसके लाड़-प्यार के सामने वह हमीद लंगड़ा की सारी कड़वी बातें भूल जाता। हमीद लंगड़ा जितना उसे अधूरेपन के एहसास से भर देता फरीदा के सामने पड़ते ही उसे अपना जीवन भरा-पूरा लगने लगता। 'अपना घर' होने के एहसास और घर में रहने वाली स्त्री का मात त्व उसे.... तमाम जलालतों से मुक्त कर देता। डॉ. फरीदा का उसके प्रति ज़रूरत से ज़्यादा लाड़-प्यार देखकर हमीद लंगड़ा अलबत्ता चिढ़ने लगता। वह फ़रीदा को डपटते हुए कहता– ''अरी जो करमजली, यह तेरा को खजना लौण्डा नहीं है। जरा कम लाड़-प्यार किया कर। कुछ मेरा भी ख़्याल रखा कर। ये साला दुकान के काम जब आयेगा तब आयेगा, अभी तो इसने मेरे सालन का स्वाद ही बिगाड़ दिया है। क्या करूँ? इस हरामी को लाने की भूल मैंने क्यों की थी? इस औरत को अपने शौहर से ज़्यादा इस साले काफ़िर लौण्डे की चिंता रहती है। मैंने भी क्या मुसीबत मोल ली है?''

लगातार गालियाँ देता..... बड़बड़ाता, तंबाखू की पीक थूकता उसकी तरफ गुर्राकर देखता हमीद लँगड़ा उसके लिए लज़ीज गालियों का तड़का लगाता रहता। वह और फ़रीदा नहीं समझ पाते थे कि आख़िर हमीद लंगड़ा चाहता क्या है? क्यों उसको उठाकर लाया था! क्यों घर में रखे हुए था और क्यों नहीं उसे घर से जाने देता था?

जिस दुकान को चलाने के लिए हमीद लंगड़ा इस लड़के को स्टेशन से अनाथ, आवारा और चोर मंडली से उठाकर लाया था, वह दुकान ब्यावरा बायपास चौराहे पर बनी है। हवा भरने एवं पंचर बनाने की दुकान, जो चौबीस घंटे खुली रहती है। इस नेशनल हाइवे से गुजरने वाले ट्रकों के लिए हमीद लंगड़ा की यह दुकान तब भी थी जब यह बायपास रोड नहीं बना था। तब सारी छोटी-बड़ी गाड़ियाँ कस्बे के अंदर से गुजरती थी जिससे उठी ध ूल, कीचड़ भरा पानी और मिट्टी... आसपास की चीजों को गंदा कर देती थी। ब्यावरा-आगरा-बाम्बे नेशनल हाइवे पर इन्दौर-ग्वालियर के बीच स्थित यह एक मध्यम श्रेणी का कस्बा है। कस्बे की तमाम विशेषताओं और रंगीनियत को समेटे। और कस्बे की तमाम बदहालियों और बदसूरती की साक्षात् तस्वीर

नाम : डॉ. उर्मिला शिरीष
जन्म : 19 अप्रैल 1959
शिक्षा : एम.ए. (हिन्दी) पी.एच.डी., डी.लिट्.
कहानी संग्रह : वे कौन थे, मुआवजा, सहमा हुआ कल, केंचुली, शहर में, अकेली लड़की, रंगमंच, निर्वासन, पुनरागमन,
संपर्क : 'नक्षत्र'-59-बी, जानकी नगर, चूनाभट्टी, कोलार रोड, भोपाल- 462042
फोन (1755) 2428927, मो. 9303131118
E-mail-urmilashirish@hotmail.com

दिखाता! भोपाल-जयपुर रोड इस हाइवे से यहाँ से जुड़ता है। आबादी बढ़ने के साथ-साथ गाड़ियों की आवाजाही भी बढ़ती गयी थी। इसलिए भी इस दुकान पर अब हवा भरने, पंचर सुधारने के अलावा बीड़ी, सिगरेट, पान, तंबाखू, गुटखा, नमकीन, चना और साबुन जैसी चीजें हमीद लंगड़ा ने रख ली थी। वक़्त बेवक़्त जो चीज़ें कहीं नहीं मिलती थीं वे सब यहाँ मिल जाती थीं। दुकान के सामने खुले मैदान में पुरानी अंदर धंसी खटियाँ पड़ी थी जिन पर उठते-बैठते और लेटते हुए चरमराहट की आवाज़ निकलती थी। थके-हारे ट्रक ड्राइवर इन्हीं खटियों पर अपनी कमर सीध ी करके आगे की यात्रा पर निकल जाते हैं। विश्राम के लिए बने ये पड़ाव जीवन के लिए कितने ज़रूरी होते हैं, यह तो लगातार यात्रा करने वाले यात्री ही जानते हैं– सूरज की तपिश और चाँद की शीतलता का एहसास यात्रियों को यहीं पर होता था। इस दुकान पर हमीद लंगड़ा हर तरह की सुविधाएँ देने की कोशिश करता इसलिए लोग उसे तथा इस लड़के को प्यार भी करते थे। हर आने-जाने वाले से उसकी दुआ-सलाम ज़रूर होती। यात्री और ड्रायवर अपने-अपने किस्से सुनाते। वैसे हमीद लंगड़ा दिल का बुरा आदमी नहीं था। हाँ, उसकी जुबान ज़रूर कड़वी थी। असभ्य थी। चुभने वाली थी। यह लड़का यानी प्रिंस न चाहते हुए भी उसकी तीखी जुबान का, उसके बदमिज़ाज व्यवहार का आदी हो चुका था। लेकिन यात्रियों के सामने जब वह लगातार अनर्गल गालियाँ देता तो प्रिंस झुंझला जाता। उसका धैर्य जवाब देने लगता। उसके भीतर बैठा मर्द उसे ललकारने लगता। बेशब्द गुस्से में आकर वह चीजों को तोड़-फोड़ देता। चुपचाप भाग जाने का निश्चय कर लेता। तब उसे हमीद लंगड़ा की अच्छाईयाँ याद हो आती और अपने 'लावारिस' होने का एहसास द्रवित कर देता। हमीद लंगड़ा का उसके प्रति वो थोड़ा बहुत.....देखा-अनदेखा... ज्ञात-अज्ञात. ... प्रेम-लगाव तथा अपनत्व याद हो आता जिसकी खातिर उसने उसका नाम प्रिंस रखा था। प्रिंस नाम रखने की प्रेरणा हमीद लंगड़ा को शम्मी कपूर की फिल्म, जो कि उसने तीस बार देखी थी, से मिली थी। कई बार प्रिंस स्वयं को धिक्कार उठता अपने भीतर उठते बुरे ख्यालों के लिए शर्मिन्दा हो उठता। वह कैसे भूल सकता है कि इतने बड़े संसार में प्रिंस को न सिर्फ़ हमीद लंगड़ा ने छत्र-छाया दी थी बल्कि माँ की गोद तथा भरपेट भोजन भी दिया था। भाग्य का मारा प्रिंस हमीद लंगड़ा की इस दरियादिली को लेकर तमाम गालियाँ भूल जाता। अपने तन्हा होने और बेकार होने का भय उसे सिहरा देता, उसे वे गंदे फुटपाथ, नशा करने वाली टोलियाँ, भीख मांगने के लिए यातना देने वाले गिरोह और अप्राकृतिक कृत्य करने वाले लोग भीतर तक थरथरा देते। तब वह ऐसे डरावने क्षणों में उसे मन ही मन अपना 'खुदा' तक मानने लगता। ऐसा जीवनदाता, जिसने उसका जीवन संवारा था। अन्यथा वह भी उन अनाथ बच्चों की तरह चोर, लुटेरा, नशेड़ी या भिखारी बनकर फुटपाथों पर पड़ा होता या गुंडों मवालियों के बीच। उसके इन 'बड़े एहसानों' का एहसास होते ही प्रिंस को हमीद लंगड़ा अपनी तमाम तरह की गालियों, लांछनों और दुत्कारों के बावजूद भी पराया नहीं लगता था। 'परायेपन' का बोध रोटियों से बढ़कर नहीं था। रोटियाँ और घर उसके लिए जीवन का परम लक्ष्य थी। उसे अपनी सुरक्षा में ही जीवन का सौंदर्य और सुख नज़र आता. .. गंदगी के टुकड़े जीवन रूपी नदी में बहते नज़र आते।

बस इसी तरह उन तीनों का जीवन एक पटरी पर चल रहा था। छोटे-छोटे सुख। छोटी-छोटी खुशियाँ। छोटी-छोटी शिकायतें। क्षणिक रोष। क्षणिक घ णा। प्रिंस ने छोटी उम्र में ही दुकान संभाल ली थी। शरीर से बलिष्ठ। हल्का सांवला रंग। घुंघराले बाल। गहरी काली आँखें प्रिंस में आकर्षण पैदा करती थी। लोगों के बीच उसकी साख... दो तरह से थी। एक तो वह... 'निकाह' में लाज़वाब सेहरा गाता था। बहुत मीठी और दिल तक उतरने वाली आवाज़ थी उसकी, दूसरा... हमीद लंगड़ा की बदजुबानी से गुस्साये लोगों से प्रिंस ही बड़ी सदाशयता और विनम्रता से निपटता था।

लेकिन अब वह खुश था कि हमीद लंगड़ा घर में रुकता है.....। उसकी अनुपस्थिति में प्रिंस आराम से काम करता। रेडियो सुनता और खाली समय में चैन की नींद लेता। प्रिंस की नींद में खूबसूरत सपने आने लगे थे.... पर दुर्भाग्य ने हमीद लंगड़ा को जकड़ लिया था। काम की जिम्मेदारियों से मुक्त होकर जब चैन से सोने का समय आया, तो हमीद लंगड़ा को चैन भी नसीब न हो सका। फ़रीदा की हालत दिन ब दिन बिगड़ती जा रही थी। डॉक्टर ने बताया कि उसकी देह में खून बनना बंद हो गया। नीम-हकीमों के अनुसार उसके जिगर ने काम करना बंद कर दिया था। इन्हीं नीम-हकीमों का इलाज महीनों से चल रहा था। पर कोई फायदा नहीं हुआ। न होना था। ऐसी हालत में भी फरीदा लगातार काम करती रहती। काम करते-करते, उल्टा-सीधा इलाज करवाते-करवाते कुछ दिनों बाद ही फरीदा अल्लाह को प्यारी हो गयी। प्रिंस और हमीद लंगड़ा एक साथ अनाथ हो गये। घर में मातम छा गया। दोनों के सामने खाने के लाले पड़ गये। वे दोनों स्वयं को बेघर और बदहाल महसूस करने लगे। प्रिंस को पहली बार माँ का अभाव खला। तो हमीद लंगड़ा को अपनी बीवी का। दोनों रात्रि के सन्नाटे में फरीदा को याद करके आंसू बहाते....। हमीद लंगड़ा समझ गया कि बिना औरत के जीवन काटना कितना मुश्किल है। कितने दिनों तक होटल या ढॉबे का खाना खाया जा सकता है। कितने दिनों तक कोई घर में आकर उसकी ग हस्थी सम्भाल सकता है। औरत की खुशबू. .. उसकी हँसी, उसकी पदचाप, उसकी चूड़ियों की रूनझुन, उसकी बातों का असर सभी कुछ तो घर में रचा बसा होता है.... वरना फरीदा के जाने के बाद सब कुछ वीरान सा क्यों लगने लगा है! हमीद लंगड़ा को लगा कि औरत ही इस कायनात को चलाती है..... मर्द तो केवल पीछे-पीछे चलता है....। तब पहला ख़्याल हमीद लंगड़ा के दिमाग़ में यही आया कि क्यों न प्रिंस का निकाह कर दिया जाये? लेकिन क्षणों बाद ही यह ख्याल काफूर हो गया। इतनी कम उम्र की लड़की क्या घर ग हस्थी संभाल

पायेगी? उल्टा सिरदर्द और बन जायेगी। फिर प्रिंस की हक़ीक़त से सब वाकिफ़ थे। उसके समाज के लोग तो उसे काफ़िर ही नहीं हराम की औलाद भी मानते थे। प्रिंस के साथ एक विडम्बना यह भी थी कि इतने वर्षों बाद भी हमीद लंगड़ा ने उसे न तो धार्मिक रूप से और न ही कानूनन अपनी औलाद माना था। फिर कोई दीन-ईमान वाला मुसलमान अपनी लड़की का निकाह प्रिंस से क्यों कर करेगा। और निकाह करते ही... क्या पता प्रिंस अपना अलग घर-परिवार बसाकर दुकान छोड़-छाड़ कर ही चला जाये। इसलिए प्रिंस की शादी का ख़्याल हमीद लंगड़ा को अपने दिलो-दिमाग़ से निकाल देना पड़ा। हां, इस बीच इतना ज़रूर हुआ कि हमीद लंगड़ा ने वर्षों पुरानी शराब पीने की आदत छोड़ दी। शराब से तौबा करने की बात सबको हैरत में डाल गयी। इतना ही नहीं जुम्में के जुम्में नमाज़ पढ़ने वाला हमीद लंगड़ा अब पांच वक्त का नमाज़ी हो गया था। एक नेक बंदा बनने के लिए वह स्वयं को भीतर-बाहर से प्राच्छादित कर रहा था। प्रिंस को उसने किसी बात के लिए बाध्य नहीं किया। प्रिंस साल में सिर्फ़ एक बार ईद के त्यौहार पर नये कपड़े पहनकर कान में इत्र का फाहा लगाकर ईद की नमाज़ पढ़ने जाता था। प्रिंस को महीनों पहले से ईद का इंतज़ार रहता। यह त्यौहार उसे खुशी और उल्लास से भर देता था। सबसे मिलना-जुलना। पूरे साल का मनो-मालिन्य साफ हो जाता था। लोगों ने देखा कि हमीद लंगड़ा दिन-ब-दिन दीन ईमान में लीन होता जा रहा था। कुरान, इस्लाम और ईमान के बारे में जानने के लिए उत्सुक हो उठा था। उसे लगने लगा था कि उसका अब तक का जीवन व्यर्थ ही गया। वह स्वयं से खुश था कि एक आवारा तबियत का आदमी ईमान पर चलने पर चलने लगा है। उसके इस बदले हुए रूप, व्यवहार तथा आचरण को देखकर एक दिन हाफ़ीज़ साहब ने कहा– ''हमीद मियां, तुम एक नेक नीयत वाले आदमी हो। दीन-ईमान में विश्वास रखते हो। पांच वक्त के नमाज़ी हो और अल्लाह के फजल से तुम्हारा काम भी अच्छा खासा चल रहा है।''

''सो तो है।''

''अभी तुम्हारी उम्र ही कितनी है?'' हाफ़ीज मिंया पान की गिलौरी मुंह में घुमाते हुए उसके चेहरे को एक-टक देखते रहे। फिर सीधे-सीधे प्रस्ताव ही रख दिया– ''रहीम की लड़की रिज़वाना से निकाह क्यों नहीं कर लेते! उस गरीब परिवार का भला हो जायेगा और रिज़वाना को पनाह भी मिल जायेगी।''

''आप भी कैसा मज़ाक कर रहे हैं भाई जान!'' हमीद लंगड़ा शरमा कर बोला।

''इसमें मज़ाक की क्या बात है। मैं संजीदगी से कह रहा हूँ। आप भी पूरी संजीदगी से विचार करके मुझे बतायें।''

हमीद लंगड़ा दो-चार दिन खामोश रहा। मन ही मन सोच-विचार करता रहा। घर में पसरी अटूट ख़ामोशी... स्वयं का अकेलापन जो उसकी शिराओं को चटकाने लगा था, का एहसास होते ही उसे हाफ़ीज साहब का प्रस्ताव बुरा नहीं लगा। निकाह का प्रस्ताव उसके दिल दिमाग़ को हर क्षण.. दस्तक देता रहता... और कुछ दिनों बाद ही हमीद लंगड़ा ने महसूस किया कि उसके भीतर पसरी तन्हाई और वेदना यकायक गायब हो गयी। उसे अपने भीतर कुछ-कुछ इठलात-अंगड़ाता सा लगा। देखते ही देखते बिना किसी शोर-शराबे के हमीद लंगड़ा का निकाह पांच सौ की मेहर पर अठारह वर्षीय रिज़वाना के साथ हो गया।

रिज़वाना के घर में आते ही प्रिंस और हमीद के चेहरे खिल गये। दोनों को वक़्त पर खाना मिलने लगा। बिखरा अव्यवस्थित, गंदा घर साफ-सुथरा और सुव्यवस्थित हो गया। घर के दरवाज़ों पर अब ताले नहीं लगते। समय पर हर काम हो जाता। करीने से हर चीज़ रखी मिलती। यूं तो दुनियादारी के चलन में दो जीवन खुशी और शांत दिखते थे पर कहीं कोई दरार थी जिसमें जीवन की तमाम कामनाएँ धँसती जा रही थी। हमीद लंगड़ा ने जिस 'एहसास' के चलते निकाह किया था, वह एहसास, वह पौरुष नामालूम किन क्षणों में उसके शरीर से निकल चुका था! हमीद लंगड़ा के इस पौरुषहीन व्यक्तित्व के कारण रिज़वाना के जीवन से रौनक, हंसी, खिलखिलाहट और निकाह के नाम पर देखे गये सपने धूमिल हो गये। बूढ़े होते हमीद का झुकाव अल्लाह की तरफ इतना अधिक हो गया कि नव-ब्याहता रिज़वाना उसकी उपेक्षा से दुःखी होकर चुपचाप आँसू बहाती रहती। रिज़वाना को समझते देर न लगी कि इस घर में वह रसोई बनाने के लिए लाई गयी थी और सच्चाई भी यही थी। रिज़वाना का मन भी हमीद लंगड़ा से न मिलता था। हमीद उसके अब्बा की उम्र का था। लंगड़ा कर चलता था। शरीर से कमजोर था। मन से भी अनासक्त और नीरस हो चुका था। जवान बीवी के साथ हँसी-मज़ाक करना भी उसे रास न आता था। उसकी ख़ातोशी इतनी लंबी और सघन हो जाती कि रिज़वाना और प्रिंस चाहते हुए भी बात न कर पाते। कई बार तो ऐसा लगता था कि वह जानबूझकर ऐसा कर रहा है... ताकि रिज़वाना की जुबान बंद रहे। वह नहीं जानता था कि जुबान बंद करके वह रिज़वाना के आंसू बंद नहीं कर सकता था। बेशब्द बहते आंसू रिज़वाना के दिल में चल रहे हाहाकार को व्यक्त कर देते थे। शायद आंसू छोटी-छोटी यात्राओं में अपना अंत खोज लेते हैं। उपेक्षा और ख़ामोशी का आलम यह था कि वह रिज़वाना को बिना बताये ही दूर-दराज मज़लिसों में जमात के साथ चला जाता। बाद में तो यहाँ तक नौबत आ गई कि दो-दो, तीन-तीन महीने वह घर से गायब रहने लगा।

उसकी अनुपस्थिति में प्रिंस बड़े बुजुर्ग की तरह घर, दुकान और रिज़वाना की ज़िम्मेदारी उठा रहा था। काम की व्यस्तता और तनाव में एकमात्र शगल जो प्रिंस का था– सेहरा गाने जाना– वह भी बंद हो गया। हमीद लंगड़ा और रिज़वाना के निकाह में भी उसने सेहरा गाया था। रिज़वाना को प्रिंस की आवाज़ और अंदाज़ दोनों ही पसंद थे। यद्यपि रिज़वाना की हैसियत प्रिंस के सामने 'अम्मी' की ही थी। रिज़वाना जानती थी कि प्रिंस को उसके शौहर ने सहारा दिया था। प्रिंस और रिज़वाना की उम्र में मात्र तीन-चार वर्ष का

अंतर था। ये तो खुदा ही जानता है कि वह अंदर ही अंदर अंकुरित-पल्लवित होने वाली मोहब्बत की खुशबू थी या रिज़वाना की अत प्त वासनाओं का विस्फोट जो उम्र के तकाजे के कारण एकाएक पहाड़ की छाती फोड़ कर लावा की तरह धधक रहा था या हमीद लंगड़ा की घोर उपेक्षा और कमजोरी का प्रति-परिणाम। जिस पर घर का एकान्तिक माहौल उन अत प्त भावनाओं को हवा देने के लिए काफ़ी था। उस सुरक्षित घर के माहौल में वह सब घटित हो गया जो दुनियादारी के मुताबिक नहीं होना चाहिए था। रात्रि की मादकता और दिन की तपिश ने उन दोनों की अव्यक्त कामनाओं की ऐसी कहानी लिख दी– लोगों के अनुसार– जिसने माँ और बेटे के पाक रिश्ते को कलंकित कर दिया था। एक पवित्र विश्वास का खून हुआ था। कहा जाता है कि अच्छे से अच्छा खाना खाने वाले कुत्ते को यदि कचरे में पड़ी हड्डी मिल जाये तो वह उसको तब तक चूसता रहता है जब तक कि उसके तालू से खून निकल कर वहाँ गहरा घाव न बन जाये। प्रिंस और रिज़वाना अपने जज़्बातों तथा वासनाओं में इस कदर बह गये कि उन्हें दीन-दुनिया, नैतिकता-अनैतिकता, पाप-पुण्य यहाँ तक कि हमीद लंगड़े खूंखार व्यवहार तक का ख़्याल न रहा। कामनाओं की उफनती धारा में वे दोनों इस कदर डूबेंगे, इसका इल्म उन्हें खुद भी न था। जीवन के उन कुछ उन्मादक पलों की कहानी कितनी बार दोहरायी गयी यह तो वे दोनों ही जानते थे। देह की प्यास के अलावा मन में फैले रेगिस्तान ने भी उन दोनों को कमजोर बना दिया था। म गत ष्णाओं के बवंडर ने शेष स ष्टि से उनका नाता तोड़ दिया था। उन दोनों को अपने-अपने 'अनाथ' और 'अकेले' होने का एहसास.. भी काफी करीब ले आया था।

अंतिम बार जमात के साथ जाने से पहले हमीद लंगड़ा क्या इस राज को जान गया था? मोहल्ले वालों की खुसुर-पुसुर क्या उस तक पहुंच गयी थी? क्यों कर वह गंभीर, चुप और तन्हा होता गया था। दीन और ईमान में खोता गया था? वैराग्य का यह भाव उसकी आंखों में गहरी वेदना के रूप में दिखता था। जो भी हमीद लंगड़ा से बात करता वह उसको दीन-ईमान पर चलने की सलाह देने लगता। कुछ लोगों का कहना था कि हमीद लंगड़ा जानबूझ कर इस तरह का व्यवहार करता था। कुछ शरारती और मसखरे टाइप के लोग उसका मज़ाक बनाते हुए कहते, 'क्यों मियां, ऐसा भी तो हो सकता है कि पहली ही रात हमीद लंगड़ा रिज़वाना की दहकती हुई जवानी के सामने पस्त हो गया हो और मैदान छोड़ भाग खड़ा हुआ हो अन्यथा वह और धर्म-कर्म और दीन-ईमान की बातें करता? सौ चूहे खाकर बिल्ली हज करने चली।'

सामूहिक हंसी के ठहाके अछोर धरती और आकाश में बिखर जाते। हमीद लंगड़ा आसपास के लोगों से नज़रें मिलाने की कोशिश करता पर उन सबकी आंखों में क्या उसे अपने लिए सिवा 'उपहास' के कुछ नज़र न आता। वह भी ऐसा उपहास जो उसे भीतर तक घायल कर देता था। हमीद लंगड़ा को रह-रहकर वे ठहाके नश्तर की तेज़ धार से कटे शरीर में होने वाली पीड़ा से ज्यादा दर्द देते। उसकी शारीरिक अपंगता का आज तक किसी ने इतना मज़ाक नहीं बनाया था जितना कि इस 'अपंगता' का मज़ाक उड़ाया जा रहा था।

उन तीनों को लेकर तरह-तरह की चर्चाएँ होती रहती। इन चर्चाओं को हवा तब और मिल गयी जब लोगों को पता चला कि रिज़वाना पेट से है। मोहल्ले के लोग रिज़वान के पेट से होने को हमीद के जाने और लौटने की तारीखों से मिलाते। गुणा-भाग करते। मनचले लोग हमीद लंगड़ा को जानबूझकर मुबारकबाद देते। हमीद लंगड़ा सबकी मुबारकबाद को शांत भाव से कबूल कर लेता। लोग उसके हाव-भाव देखकर विस्मित रह जाते। हमीद लंगड़ा के मन में, बातों में, व्यवहार में और जीवन में निरासक्ति का भाव इस कदर बैठ गया था कि लोग यक़ीन ही न कर पाते। लोगों की समझ में नहीं आता था कि यह वास्तविक वैराग्य था या रिश्तों के बीच आई अपवित्रता को छुपाने की कोशिश। अपने 'पुरुषार्थ' की पराजय को वह सार्वजनिक नहीं कर सकता था। उसकी उधेड़बुनों का अपना ही जगत् था। ऐसा जगत् जिसमें हमीद लगड़ा एकदम अकेला था। अपने आपसे लड़ता हुआ। अपने आपको ज़ब्त करता हुआ। चुप्पी ने उसके जबड़ों को टेढ़ा कर दिया था, जिससे उसकी नाक टेढ़ी और आंखें धंसी-धंसी लगने लगी थी। भीतर उठती हलचलों को हमीद लगड़ा अपनी इसी चुप की शिला से दबाये हुए था और इधर बाह्य जगत् में, रिज़वाना को सातवां महीना चल रहा था। इस सातवें महीने के अंतिम दिनों में हमीद लंगड़ा एक महीने के लिए जमात के साथ बरेली चला गया था। जमात के लोग महीने भर बाद लौट आये पर हमीद लंगड़ा नहीं लौटा। प्रिंस और रिज़वाना उसका इंतज़ार करते रहे। चूंकि हमीद लंगड़ा जमात के साथ गया था इसलिए पुलिस में रिपोर्ट लिखवाना प्रिंस और रिज़वाना को ठीक न लगा। लोग प्रिंस से बार-बार पूछते। कुरेदने की कोशिश करते। मज़े की बात यह कि हमीद लंगड़ा के बाहर जाने से लोगों की सहानुभूति उसके प्रति हो गयी। प्रिंस को वे ऐसे खलनायक के रूप में देखते जिसकी जवानी ने हमीद लंगड़ा को कुंठित कर दिया था। तब प्रिंस का मन भारी हो जाता। कई दफ़े वह लोगों की आहत कर देने वाली टिप्पणियों से दुःखी होकर रोने लगता। आख़िर यह जीवन उसी का दिया हुआ था। उसने प्रिंस के साथ कभी दगाबाज़ी नहीं की थी भले ही लाख गालियाँ दी हों, दुत्कारा हो, उसकी जाति और उसके धर्म पर कटाक्ष किया हो, लेकिन उसके जीवन को लेकर, उसके काम को लेकर उसकी अपने घर में हैसियत को लेकर वह हमेशा सहृदय रहा था। पर, प्रिंस ने क्या दिया उसको सिवा दगाबाज़ी के। उसका ईमान डोल गया था। उसने अपने पिता तुल्य इंसान के साथ छल किया था। एक औरत की मोहब्बत और जिस्म की खुशबू तथा भूख ने उसे भटका दिया था। वह हव्वा ही थी जिसने आदम को उसके खुदा की जन्नत से जुदा करके इस दुनिया में भटकने के लिए छोड़ दिया था। फल चखना और खुदा से अलग होना.... इतनी बड़ी कीमत चुकायी थी आदम ने.. हव्वा के कहने से।

प्रिंस में भी क्या आदम की आत्मा आ बैठी थी। वह.. विवेकशून्य इंसान हो गया था। फिर लोगों ने देखा.... प्रिंस ने हँसना छोड़ दिया। वह चुपचाप काम करता रहता। उसका चेहरा पथरा गया था, उसकी आंखों में व्यथा की परछाईयां डोलती रहती। उसका खाना-पीना, सोना सब हमीद लंगड़ा की यादों ने छीन लिया था।

उन्हीं मनहूसियत से भरे दिनों में एक सुबह रिज़वाना ने एक लड़के को जन्म दिया। प्रिंस ने उसका नाम रखा अशरफ। जब अशरफ तीन साल का हो गया तो रिज़वाना की जिद पर उसने अशरफ का दाखिला अंग्रेजी-मिशन स्कूल में करवा दिया। उन तीनों का जीवन अपनी गति से चल रहा था। किसी अभिशाप की छाया से घिरा। ख़ामोश! बेनूर! लांछित! बीच-बीच में उड़ती-उड़ती ख़बरें आती कि हमीद लंगड़ा नेपाल में है! प्रिंस ख़बर के पीछे-पीछे भागता और कोशिश करता कि हमीद लगड़ा लौट आये। कम से कम एक बार उससे बात कर ले। मगर फिर महीनों का मौन उसे पीछे लौटाकर अपनी जगह खड़ा कर देता। अपनी घुटन से मुक्त होने के लिए उसने शराब का सहारा ले लिया! रिज़वाना और अशरफ को हमीद लंगड़ा की अमानत मानकर उनकी तमाम जिम्मेदारियाँ उठाने में वह किसी प्रकार की कोताही न बरतता।

इधर प्रिंस के दिल और घर में आग लगी थी तो उधर मुल्क के हालात भी ठीक न थे। पहले तो दंगे फसाद बड़े-बड़े शहरों तक सीमित थे। जाति, कौम और सम्प्रदाय की बातों का असर शहरी स्वार्थपरक लोगों की बुद्धि का खेल होता था। वैमनस्य की आग भावनाओं को झुलसा देती थी। लेकिन उनकी आग अब छोटे-छोटे शहरों, कस्बों और गांवों तक पहुंच चुकी थी। ऐसे में प्रिंस जैसे लोगों की स्थिति धोबी के कुत्ते की तरह हो जाती, जो न इधर के होते न उधर के। न हिन्दू उन्हें अपनाते, न मुसलमान उन पर विश्वास करते। यद्यपि प्रिंस अपने व्यवहार के कारण सबका प्यारा था। आत्मीय था। सब उसकी प्रशंसा करते थे। उस पर विश्वास करते थे। पर जब हालात बिगड़कर बेकाबू हो गये और साम्प्रदायिक दंगों ने पूरे कस्बे को अपनी ज़हरीली आग में लपेट लिया, तो प्रिंस भी उसकी लपटों में घिर गया। उसके साथ वही हुआ। वह. ... भौंचक सा खड़ा था..। नितान्त अकेला! उसके वे तमाम संगी-साथी, तमाम ग्राहक नदारद थे, जो रोज़ उसकी दुकान पर घंटों बैठकर गप्पे लगाते थे। रेडियो सुनते थे। गाड़ियाँ सुधरवाते थे। दंगों के कितने दिनों बाद भी लंबे-लंबे साये... ही उसे अपने आस-पास नज़र आते थे। जो उसका गला दबाने के लिए उसकी तरफ झपटते प्रतीत होते थे। कितने ही दिनों तक प्रिंस की ऐसी मनःस्थिति रही..। आस-पास के लोग देखकर हतप्रभ रह जाते..। उसकी स्थिति पर तरस खाते। उसे नसीहत देते– ''कितना समझाया था कि छोड़ दे लंगड़े को। अपना घर-बार बसा ले..। पर इसे तो एहसान चुकाना था। चुकाओ एहसान! भुगतो सजा।'' प्रिंस को लगता क्या ये वही दुनिया है, मेरी अपनी वो दुनिया जिसमें अपने लोग हुआ करते थे। मेरे अपने लोग कहाँ खो गये? कोई क्यों नहीं आकर.. उसे... सांत्वना देता है! क्यों नहीं उसके कंधे थामता है! क्यों नहीं उसके घावों पर मरहम लगाता है। ''अब भी वक़्त है चला जा..। छोड़ दे इस जगह को।'' ऐसी नसीहत देने वाले लोगों को कैसे समझाये कि इस जगह को छोड़ना उसके लिए मौत को गले लगाने जैसा था। दोनों तरफ की माचिस की तीलियों ने उसे तबाह कर दिया था। जब उसका जीवन धूं-धू करके जल रहा था तब उसे बचाने के लिए कोई न आया। न दोस्त, न परिचित, न पुराने ग्राहक, न नये-नये बने शुभचिंतक। वह लोगों की सलाह माने भी तो क्यों? हां, सरकार ने ज़रूर मुआवजा देकर उसके जैसे लोगों के ज़ख्मों पर मरहम लगाने का काम किया था।

एक तपती हुई दोपहर। चटक धूप से तपता आसमान! दूर-दूर तक पसरा सन्नाटा।

काम निपटाकर प्रिंस सुस्ताने बैठा ही था कि उसका हाथ टी.वी. के बटन पर चला गया। पिछले दिनों देश के कई हिस्सों में चेन ब्लास्टिंग हुए थे, जिसे सरकार पड़ोसी देश की आतंकवादी गतिविधियाँ मान रही थी टी.वी. पर लगातार ख़बरें आ रही थीं। रिपोर्टस के भावावेश से भरी आवाज़ उसके दिल पर प्रहार कर रही थी। जिन लोगों को दिखाया जा रहा था उनमें से एक व्यक्ति को देखकर प्रिंस एकाएक उछलकर खड़ा हो गया। उसके शरीर में सनसनाहट दौड़ गयी। वह अपनी आंखों को बार-बार रगड़ रहा था। स्वयं को ग़लत सिद्ध करने के लिए उस चेहरे की पहचान नकार रहा था। पर नकार का भाव सामने खड़े शख्स से टकरा रहा था, चुनौती दे रहा था, उसकी सोच को, उसकी नज़रों को! वह बंदर की तरह उछलकर टी.वी. के पास जा पहुंचा। उसने टी.वी. की स्क्रीन पर आँखें गढ़ाकर देखा। दुबला-पतला आदमी जिसकी दाढ़ी बढ़ी हुई थी, जिसने सिर पर अफगानियों की तरह कपड़ा बांधा हुआ था, जिसने सहारे के लिए एक हाथ में लकड़ी पकड़ी हुई थी, व इन आतंकवादी गतिविधियों को 'जिहाद' का नाम दे रहा था। इन तमाम घटनाओं का 'मास्टर गाईड' उसे ही बताया जा रहा था।' हमीद मोहम्मद! तुम! हमीद लंगड़ा से हमीद मोहम्मद कैसे बन गये? अब्बा! तुम। प्रिंस वहीं से चिल्लाया। उसकी आवाज़ दिन के सन्नाटे में गुम हो गयी। उसे लगा वह सपने में चिल्ला रहा है पर सामने टी.वी. पर जिसे देख रहा था उसे देखकर प्रिंस को लगा कि हाथ बढ़ाकर उस आदमी को पकड़कर खींचकर बाहर निकाल ले। टी.वी. पर लगातार उनकी गतिविधियां दिखाई जा रही थी.. पर... वह मन ही मन बुदबुदा रहा था– अब्बा, तुम तो नेकदिल इंसान थे। पांच वक़्त के नमाजी। ईमान परस्त इंसान। मुझ जैसे अनाथ को अपनाने वाले। यह क्या हो गया है तुम्हें? क्या मैं जिम्मेदार हूँ? क्या तुम अपनी मुँहबोली औलाद से पराजित होकर सारी दुनिया को जीतने चले थे? जिस ख़ौफ़नाक मंजर को प्रिंस टी.वी. पर देख रहा था और जिन भयावह द श्यों का हिस्सा वह यहाँ स्वयं बना था उन्हीं जैसे हालात पैदा कराने वाला उसका अब्बा वहाँ उन सबका कर्ता-धर्ता बना बैठा था। 'अब्बा, यह संबोध न तो पहले कभी उसके मुंह से निकला ही नथा। आज यूं बेसाख़्ता कैसे निकल पड़ा– अब्बा! अब्बा! वह कैसे बताये अब्बा को कि

उन दंगाईयों ने रिज़वाना और अशरफ को कैसे ज़िंदा जला दिया था और कैसे उसकी उस दुकान को, जिसे उसने तिल-तिल करके बनाया था और जो दुकान असंख्य यात्रियों की शरणगाह थी, आरामगाह थी... उसी दुकान को तहस-नहस कर दिया था। जब तक उसे होश आता तब तक सब कुछ ख़त्म हो चुका था..। एक उजाड़ जमीन का खंडित बदसूरत टुकड़ा उसके सामने पड़ा था। उस टुकड़े के साथ वह आज भी गोंच की तरह चिपका हुआ है जैसे यही टुकड़ा उसकी पहचान हो। उसका अस्तित्व हो। उसके जीने का मकसद हो। हालांकि न अब वहाँ कुत्ते आते थे न... मुर्गियां... न कबूतर, न कौऐ.. न गाय-बकरियां... तब भी वह नियम से... दुकान पर आता... पुरानी टूटी-फूटी..... राख हो गयी चीजों को... बटोरता... जमाता, धीरे-धीरे वह अपने काम की तरफ लौटने लगा था।

एक अरसा गुजर गया। प्रिंस... स्वयं को अपराधी महसूस करता रहा। उसे लगता टी.वी. पर दिखा वह इंसान यानी हमीद लंगड़ा यानी अब्बा यानी... वह जिहादी इंसान यानी हमीद मोहम्मद... उसके सामने खड़ा है.. और पूछ रहा है– ''जब दंगाईयों ने उन दोनों को जलाया था, तब तू कहाँ था?'' उसका इम्तहान लिया जा रहा था...।

''मैं दुकान पर था।''

''वहाँ इतना बड़ा हादसा हो गया और तुझे ख़बर नहीं मिली?''

''जैसे ही ख़बर मिली मैं भागा-भागा आया था।''

''फिर ।'' उसकी आँखों में खून उतर आया था।

''उन्होंने मुझे पकड़ लिया था। बंधक बना लिया था। दुकान में तोड़-फोड़ कर दी थी।''

उसकी आवाज़ ही नहीं वह पूरा का पूरा कांप रहा था।

''तेरा ईमान क्या था?''

''परिवार की रक्षा करना।''

''तूने रक्षा क्यों नहीं की?''

''मुझे अंदेशा नहीं था!''

''अंदेशा होता भी तो क्या करता...?''

''उन दोनों की जान बचाता। उन्हें महफूज रखता।''

''हूऊं।''

''मेरे पीठ पीछे कौन लोग आते थे?''

''कोई नहीं।''

''तू जानता है कि मैं तेरे भरोसे उनको छोड़ कर गया था।''

''जी ई..।''

''तो.... तूने हिफ़ाजत क्यों नहीं की... हमीद लंगड़ा.... का ख़्याल नहीं आया तुझे?''

''आया था।'' वह हलाल होते बकरे की तरह घिघिया रहा था।

''वे दोनों जला दिए गये...।''

''मैं अस्पताल ले गया पर.... रास्ते में ही... .।''

''कैसे? किसने जलाया उन्हें? क्या वे पकड़े गये? कहाँ के थे वे?''

''नहीं मालूम।''

''तो तुझे क्यों ज़िंदा छोड़ दिया था? बोल, तू ज़िंदा क्यों है...! वर्षों तक एक मुसलमान का नमक खा कर भी तू आखिर में निकला तो काफ़िर ही।''

''नहीं। यह सच नहीं है। मेरा यकीन करो अब्बा। खुदा कसम। भगवान कसम। यह सच नहीं है।'' वह बिलख-बिलखकर रो रहा था।

''कहीं तूने ही तो ।'' हमीद लंगड़ा खूंखार आँखों से उसे देखे जा रहा था। उसकी आँखों में लावा धधक रहा था। पर प्रिंस की आँखों में दयनीयता थी। व्यथा थी। विवशता थी। वह हमीद लंगड़ा की आँखों में अशरफ के अब्बा की तस्वीर खोज रहा था। पर..... हमीद लंगड़ा... इस समय 'अब्बा के रूप में नहीं फितुरी इंसान के रूप में खड़ा था... हमीद मोहम्मद का व्यक्तित्व उसके ऊपर काली छाया की तरह फैलता जा रहा था। प्रिंस को लगा उसकी सांसें रूंध रही हैं। प्रिंस उसे नहीं समझा पा रहा था। ऐसा इंसान तो ढाँचा मात्र होता है.... इंसानियत से महरूम...। विवेकशून्य! 'अब्बा' का रिश्ता उसके लिए मर चुका था। हमीद मोहम्मद का इस प्रिंस से कोई रिश्ता न था... इसीलिए वह उसकी आँखों में झांकता हुआ, कुछ तलाशता हुआ, कुछ सुनने को आतुर लग रहा था। वह भी सब कुछ सुनाने के लिए छटपटा रहा था। शुरू से आख़िर तक एक-एक घटना के बारे में बता देना चाहता था पर प्रिंस की ज़बान लड़खड़ा रही थी...। उसकी आँखें धुंधला रही थीं..। उसका आत्मविश्वास डगमगा रहा था... एक बार... बस एक बार वह स्वयं को उसके सामने खोलकर रख देना चाहता था..। उसे समझ में नहीं आ रहा था कि उससे कहाँ गलती हो गयी और किस बात के लिए उसे दोषी और अपराधी ठहराया जा रहा है। अब्बा! अब्बा! यह तुम नहीं हो सकते.... तुम नहीं हो सकते।'' प्रिंस... बड़बड़ाये जा रहा था... और सामने खड़े हाफ़ीज साहब उसके कंधे थपथपाकर पूछ रहे थे– ''क्या कोई बुरा सपना देखा है? मियां! उठो....। उठकर... मुँह धो लो। मुझे तुमसे बहुत जरूरी बात करनी है हमीद लंगड़ा के बारे में।'' प्रिंस को लगा इतने बड़े संसार में कोई तो उसका अपना (आज भी) है, जो उस पर यक़ीन करता है, उसकी पीड़ा समझता है। प्रिंस को लग रहा था कि इस समय जो इंसान उसके कंधों को थामें है... उसका न कोई धर्म है न जाति न सम्प्रदाय। प्रिंस जैसे नींद से जागा हो... उसे लगा अभी सब कुछ समाप्त नहीं हुआ है। अब प्रिंस हाफीज साहब के गले लगकर रो रहा था, उसकी रूलाई ने आसमान के सन्नाटे को थर्रा दिया था। आस-पास.. बैठे परिन्दे... पंख फड़फड़ाने लगे और... वहाँ से गुजरने वाले लोग... जहाँ के तहाँ खड़े, विस्मय से उन दोनों को देखे जा रहे थे....।

●●●

कहानी

अनभिज्ञ

राजेन्द्र दानी

परिचय
वरिष्ठ कथाकार।
पहल, हंस, नया ज्ञानोदय से
लेकर हिन्दी की अधिकांश श्रेष्ठ साहित्यिक
पत्रिकाओं में कहानियां प्रकाशित।
कई वर्ष तक पहल पत्रिका से जुड़ाव।
संपर्क : 15 के जी बोस नगर, गढ़ा, जबलपुर 482003 मो० : 09893881396

साठ के ऊपर के हो रहे थे तो बूढ़े ही तो कहलायेंगे। यह मुरलीधर जी को नहीं पता था। कोई 'दादा' भर उन्हें कह दे, एकदम से चिढ़ जाते थे। उसे झिड़कते हुए कहते– ''मैं तुम्हें बूढ़ा दिख रहा हूँ क्या। अच्छा भला हूं फिर भी मुझे बूढ़ा समझते हैं, अपनी सूरत देखी है, अभी से बूढ़े दिखते हैं।''

दादा कहने वाला ऐसे में सकपका जाता और आश्चर्य और भय सहित उनसे दूर हो जाता। इस तरह वे खुश हो जाते कि उन्हें, विजय मिल गई। सामने वाला दुम दबा के भाग गया। पर उन्हें यह बात कौन सिखाता कि किसी को भयभीत करके आप सच को झुठला नहीं सकते। इस सच्चाई की जानकारी उन्हें कभी कोई गलती से भी दे देता तो उसकी खैर नहीं रहती। उसे इतनी देर तक समझाते कि उसका संयम चूक जाता और वह भी अन्त में हार कर कहता– ''आप ठीक कह रहे हैं मैं ही गलत था, क्षमा चाहता हूँ।''

वे एक बार फिर खुश हो जाते और अपनी विद्वता पर गर्व करने लगते।

वे किसी भी तरह समझने तैयार नहीं रहते कि किसी को 'दादा' कहना आदरणीय कहने की जगह कहना होता है और इससे एक आत्मीयता का एहसास दिलाना भी होता है।

वे ऊपर से प्रकट नहीं करते थे कि वे बूढ़े हो चुके हैं पर अन्दर से यह हमेशा महसूस होता रहता था क्योंकि सीढ़ियाँ चढ़ने में वे हांफ जाते, ज़्यादा चलने में मांसपेशियां दर्द करना शुरू कर देती। डाक्टर को दिखाने पर वह अक्सर उन्हें 'एन्टीऑक्सीडेंट' खाने की सलाह देता जो अक्सर कम उम्र के लोगों को नहीं दी जाती। स्मरण शक्ति पहले जैसी नहीं रही थी। बाल तो पूरी तरह सफेद हो ही गये थे। दस-बारह दिन में उन्हें बड़ी मेहनत से काला करते। सब कुछ भूल जाएं पर यह कभी नहीं भूलते। टी शर्ट और जीन्स पहनना नहीं छोड़ते। धर्मपत्नी भी कभी-कभी समझाती कि भई ये तो जवान लड़कों की पोशाकें हैं इन्हें क्यों पहनते हो, अब तो आपको ऐसे कपड़े पहनने चाहिए जो इस उम्र में अच्छे लगें।

धर्मपत्नी का इतना कहना भर उन्हें इस तरह नाराज़ कर देता कि उसे घण्टे-घण्टे भर खरी-खोटी सुनाते। हमारे समाज में तो धर्मपत्नी को हमेशा हारना ही पड़ता है तो वह भी हार जाती और फिर कहीं जाकर उन्हें चैन आता।

उन्हें उनके मित्र, परिचित, रिश्तेदार और पड़ोसी अच्छा आदमी नहीं समझते थे इसलिए उन्हें अपने बारे में पता नहीं चलता था कि लोग उनके बारे में क्या सोचते थे, क्या बोलते थे। लोगों ने उनकी आदतों से तंग आकर उनसे अनौपचारिक संवाद करना बन्द कर दिया था। पर कितनी विचित्र है यह बात कि वे समझते कि उनका रौब ही है, जो लोगो को उनके सामने चुप रखता है। कोई कहता नहीं इन बातों को पर धर्मपत्नी अपने कर्तव्य के रूप में इसे बताती तो वे उल्टा कहते– ''अरे लोगों के पास बकवास करने के लिए बहुत वक़्त होता है इसलिए तुम मुझे बता रही हो, दरअसल लोग अपनी मूर्खतापूर्ण बातों को मेरे सामने कहने का साहस नहीं कर सकते, उन्हें मालूम है कि मैं पढ़ा लिखा आदमी हूँ और मेरे पास मूर्खतापूर्ण बातों के लिए वक़्त नहीं है।''

धर्मपत्नी के पास कोई तर्क नहीं होता, वे सिर्फ़ विस्मय से देखती रहतीं जबकि वे गर्व से मुस्कुरा रहे होते।

इस तरह के अनेकानेक गफलतों से भरा उनका रिटायर्ड जीवन चल रहा था। लोग इन परिस्थितियों में अपने जीवन के हासिल के बारे में सोचते हैं जो छूट गया है उसे पूरा करने की सोचते हैं पर मुरलीधर जी के पास इन सब महत्वपूर्ण बातों के लिए कभी वक़्त नहीं होता। कपड़े-लत्ते, रहन-सहन से आधुनिकता का स्वांग वे पूरा रच लेते पर विचार से कभी न रच पाते। एक दिन के निकल जाने पर वे कभी नहीं सोचते कि यह दिन कैसा रहा। जीवन के बारे में उनके तर्क उन्हें सर्वोपरि लगते।

उनके बारे में बताने के लिए एक दिन का उदाहरण ही काफी है।

एक सुबह वे अपनी स्कूटर पर कछपुरा पुल पहुंचे। यहां उनके दो-तीन उदार मित्र उन्हें हर सुबह मिलते थे। वे ही थे जिनसे उनका संवाद होता था। वे वहां पहुंचे तो गुस्से में थे। हुआ यह कि वे अपनी कॉलोनी से मुख्य सड़क पर आ ही रहे थे कि एक मोटर साईकिल सवार नौजवान लड़के ने 70-80 की रफ़्तार में उन्हें इस तरह ओव्हरटेक किया कि वे गिरते-गिरते बचे। तबसे लगातार वे नौजवान पीढ़ी को गाली देते हुए वहां पहुंचे थे।

पुल पर अभी उनके दो मित्र रामदयाल और रघुनाथ सिंह जी पहुंचे थे और पुल की दीवार पर टिके हुए बातचीत में मगन थे। मुरलीधर जी ने उनके पास पहुंच कर गुस्से से अपना स्कूटर खड़ा किया और फुटपाथ पर नौजवान लड़कों को गालियां देते हुए कदम रखा।

पुल पर खड़े दोनों को कुछ समझ में नहीं आया कि मुरलीधर जी गुस्से में क्यों हैं तो रामदयाल ने पूछा– ''क्या बात है मुरलीधर जी क्यों नाराज़ हैं?''

मुरलीधर जी उसी गुस्से से भरे लहज़े में बोले– ''हमारा भविष्य बेहद अंधकारमय है। आजकल के लड़के बुजुर्गों को कुछ समझते ही नहीं।''

रामदयाल जी ने मज़ाक किया– ''अरे आप कबसे बुजुर्ग हो गये, अभी तो आप जवान हैं, बुजुर्ग तो हम लोग हैं, देखो रघुनाथ के बाल पूरे सफेद हो गये हैं।''

''मज़ाक मत करिये, आप देखते नहीं आज के लड़के कितने अराजक हो गये हैं। किसी को कुछ समझते ही नहीं, कोई मरे जिये उन्हें तो केवल तेज़ रफ़्तार में चलना है।'' इतना कहकर उन्होंने ओव्हरटेक करने वाले लड़के का वाकया सुना डाला।

इतना सुनकर रामदयाल जी बोले– ''यार मुरलीधर जी, आपको याद नहीं पर अपनी जवानी में आपने भी इसी तरह मोटर साईकिल नहीं तो साईकिल ज़रूर चलाई होगी, पर आज के लड़के हमसे ज्यादा प्रतिभाशाली हैं, ज्यादा मेहनती हैं और ज़्यादा जिम्मेदार हैं।''

''क्या खाक जिम्मेदार हैं मैं तो नहीं देखता कहीं से भी ऐसा है।'' मुरलीधर जी बोलते चले गये– ''जिम्मेदारी किसे कहते हैं इन लोगों को ज़रा भी नहीं पता, सिर्फ़ अपने में मगन रहते हैं, माँ-बाप का तक ख़्याल नहीं रखते, स्वार्थी कहीं के और.....।''

रामदयाल जी ने टोकते हुए कहा– ''असल में आपको कुछ पता नहीं इन लड़कों के बारे में। रघुनाथ सिंह का लड़का आस्ट्रेलिया में नौकरी करता है.... उन्हें पचास हज़ार रुपये महीने में भेजता है। रघुनाथ सिंह ने एक महीने में इतने पैसे कभी नहीं कमाए और मेरा लड़का बैंगलोर में हैं, पैंतीस हज़ार भेजता है। हम सब इसी वजह से ऐश से जी रहे हैं।''

''पैसे-वैसे से कुछ नहीं होता, ये इज़्ज़त करना नहीं जानते।'' मुरलीधर जी बोले।

रामदयाल जी ने सही बात कही थी पर मुरलीधर जी कहां मानने वाले थे तो रामदयाल जी ने एक बार फिर कहा– ''यार कोई आस्ट्रेलिया से हाथ बढ़ा कर आपके चरणस्पर्श तो नहीं कर सकता न। उनके पैसों से ही हमारी हर तरह की देखभाल होती है।... मैं तो भाई आज के बच्चों का खुद आदर करता हूं कि वे इतने सक्षम हैं कि हमारे लिए हर संभव काम कर रहे हैं।''

फिर इसके बाद बहस इतनी बढ़ी कि कभी हार नहीं मानने वाले मुरलीध ार जी नाराज होकर वहां से निकल लिए। वे दूर हो गये तो रामदयाल जी और रघुनाथ सिंह जी उन पर हँसते रहे बहुत देर तक, पर वे देख नहीं सके, जान न सके।

वे घर की ओर आ रहे थे तो एक पान के ठेले पर रुक कर उन्होंने पान खाया और स्कूटर स्टार्ट करके आगे बढ़ने को हुए तो उल्टी ओर से अचानक उन्हें एक सत्तर-अस्सी साल के बुजुर्ग आते दिखे। वे लाठी के सहारे चल रहे थे। मुरलीधर जी रुक गये तो उन बुजुर्ग महोदय ने उनसे पूछा– ''आप पहले निकलेंगे कि मैं निकल जाऊँ?''

मुरलीधर जी ने बेहद उदारता से कहा– ''नहीं, आप पहले निकल जाएं, मैं आज के बेहूदा अराजक लड़कों की तरह नहीं हूं जो अपने बुजुर्गों को कुछ नहीं समझते।''

लाठी लिए हुए वे सज्जन आहिस्ता-आहिस्त मुरलीधर जी के बगल से आगे चले गये।

उसी वक़्त पान ढेले पर चार-पांच जवान लड़के खड़े थे। उन लोगों ने इनकी सारी बातें सुनी और देखी भी फिर भी सिर्फ़ आश्चर्य सहित मुस्कुराते रहे। इसके अलावा उन लोगों ने और कुछ नहीं कहा।

पर स्कूटर को बढ़ाते, घर जाते, मुरलीधर जी ने यह कहां देखा था।

● ● ●

रेखा का रंग ही कुछ और है

दयानंद पांडेय

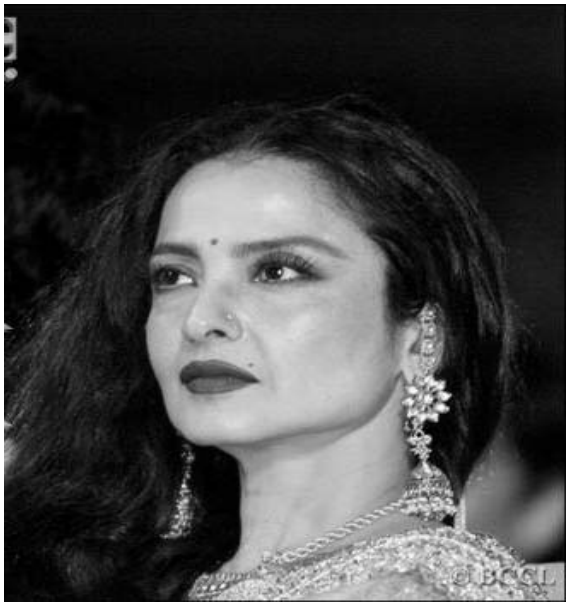

पहले शोख फिर सेक्स बम से अभिनय की बढ़त बनाने वाली रेखा की शोहरत एक संजीदा अभिनेत्री के सफ़र में बदल जाएगी यह भला किसे मालूम था?

रेखा!

सावन भादों फिल्म से शुरूआत करने वाली रेखा ने जब चार दशक पहले सेल्ज्यूलाइड की दुनिया में सर्राटा भरा था तो लोग कहते थे कि उसे शऊर नहीं न अभिनय का न जीने का। लेकिन वह तब की तारीख थी। अब की तारीख से रेखा की कैफ़ियत बदल गई है। अभिनय का शऊर और अपने जादू का जलवा तो वह कई बरसों से जता ही रहीं, जीने की ललक और उसे करीने से कलफ़ देने का शऊर भी उन्हें अब आ ही गया है। वह जब तब इसकी कैफ़ियत और उसकी तफ़सील देती, बांचती और परोसती ही रहती हैं। कई बार तो मुझे लगता है कि काश कि मैं औरत होता और कि औरत हो कर भी मैं रेखा होता। सचमुच उनसे बड़ा रश्क होता है। रश्क होता है उनके जीवन जीने के ढंग से, उनके प्यार करने और उस पर कुर्बान हो जाने के रंग से। उनके उस ज़ज़्बात और खयालात और उनके अंदाज़ से। इतना कि आज भी, 'रेखा ओ रेखा, जब से तुम्हें देखा, खाना-पीना, सोना दुश्वार हो गया, मैं आदमी था काम का बेकार हो गया', टूट कर गाने को दिल करता है। मैंने बहुतेरी कहानियां और उपन्यास लिखे हैं। पर दो चीजों पर लिखने की हसरत बार-बार बेकरार करती है। एक तो बुद्ध को ले कर एक उपन्यास की। दूसरे रेखा की बायोग्राफी या उनके जीवन पर एक व हद उपन्यास लिखने की आप कहेंगे कि क्या तुक है? बुद्ध और रेखा? दोनों दो द्वीप। कोई और छोर नहीं। पर सच मानिए जितना मैंने बुद्ध और रेखा को जाना है, दोनों मुझे बहुत पास-पास दिखते हैं। दोनों की यातना में काफ़ी साम्य है। यह प्यार भी एक तपस्या है। बतर्ज़ ये भोग भी एक तपस्या है तुम त्याग के मारे क्या जानो! दोनों की द ष्टि आनंद की ओर है। दोनों ही जो घर फूंके अपना, चले हमारे साथ वाले हैं। खैर यह द्वैत-अद्वैत दुविधा-असुविधा मेरी अपनी है। मुझे ही भोगने-भुगतने दीजिए। आप तो यहां रेखा, हमारी-अपनी रेखा पर गौर कीजिए। सोचिए और देखिए कि वह इस सदी के सो काल्ड महानायक से कैसे तो टूट कर प्यार करती हैं। टूट कर चूर-चूर हो जाती हैं पर शायद टूटती नहीं, और कि जुड़ी रहती हैं। प्यार के उस अटूट डोर से बंधी जुड़ी सिहरती-सकुचाती-ललचाती और कि अपने प्यार को जताती मुस्कुराती रहती हैं। उस अकेली, प्यार करती महिला का दुख और सुख निहारने में जाने कितनी आंखें बिछ-बिछ जाती हैं। बहुत सारे सिने समारोह इसके गवाह हैं। चैनलों के कैमरे सायास अमिताभ बच्चन और रेखा पर डोलते ही रहते हैं। अमिताभ तो अभिनेता बन जाते हैं और ऐसे व्यवहार करते हैं, ऐसे पेश आते हैं गोया रेखा वहां अनुपस्थित हैं या फिर वह उन्हें जानते ही नहीं। बतर्ज़ मतलब निकल गया तो पहचानते नहीं। वो जा रहे हैं ऐसे हमें जानते नहीं।

पर रेखा?

वह तो अंग-अंग से, रोम-रोम से अपनी उपस्थिति जताती, अपना प्यार छलकाती अपने पूरे वजूद, अपने पूरे रौ में रहती हैं, एक सिने समारोह का वह नज़ारा भूले नहीं भूलता कि ऐश्वर्या, अभिषेक बच्चन और अमिताभ बच्चन एक साथ आगे की पंक्ति में बैठे हुए थे। रेखा अचानक आईं और उनकी ओर बढ़ चलीं। किसी दुस्साहसी प्रेमिका की तरह, गोया वह कोई वास्तविक द श्य न हो कर फ़िल्मी द श्य हो। वह आ कर ऐश्वर्या से गले लगी, अभिशोक से गले लगीं और अभी अमिताभ की बारी आने ही वाली थी कि वह उठ कर ऐसे भाग चले जैसे वहां कोई सुनामी आ चली हो, कैमरों ने एक-एक स्टेप उन का कैद किया। चैनलों ने बार-बार इस द श्य को दिखाया, पत्रिकाओं ने छापा। अब रेखा के प्यार के इस चटक रंग को आप किसी टेसू के फूल में वैसे ही तो धोल कर भूल नहीं ही जाएंगे? शोखियों में तो घोलेंगे ही प्यार के फूल के इस शवाब को जो हो रेखा के इस प्यार की इबारत को बांचना अभिभूत करता है। याद कीजिए उन दिनों को जब दो अनजाने फ़िल्म रिजीज़ हुई थी और अमिताभ जया को भुला कर रेखा के रंग में रंग गये थे। इतना कि तब चर्चा चली थी कि अमिताभ-रेखा की शादी हो गई। खैर शादी हुई रिशी कपूर और

नीतू सिंह की। रेखा अमिताभ भी आए। रेखा के माथे पर सिंदूर, पांव में बिछिया पर लोगों ने न सिर्फ़ बल्कि अख़बारों में रिशी-नीतू की शादी की जगह रेखा-अमिताभ की फोटो छपी। जिसमें रेखा के माथे पर लगे सिंदूर की शोखी कुछ ज़्यादा ही सुरूर में थी।

खैर रेखा ने इसके पहले भी प्यार किए थे। अच्छे-बुरे, बाद में भी किए, पर वो सौतन की बेटी में उन्हीं पर फ़िल्माया एक गाना है– ''हम भूल गए रे तेरा प्यार मगर तेरा साथ नहीं भूले, झूले तो कई बाहों में मगर तेरा साथ नहीं भूले'' के शब्दों का ही जो सहारा लें तो कहें कि वह अमिताभ बच्चन को, उनके साथ को अभी तक नहीं भूली हैं, आगे भी खैर क्या भूलेंगी? और अब तो उड़ती सी ख़बर आए भी कुछ दिन हो चले हैं कि वह अमिताभ बच्चन के साथ किसी फ़िल्म में उनकी पत्नी की भूमिका में आ रही हैं। खुदा खैर करे।

और कि वह फ़िल्म आए ही आए।

अब लगभग विधवा जीवन (हालांकि उनके जीवन व्यवहार में यह वैधव्य कहीं दिखता नहीं, माथे पर चटक सिंदूर मय मंगलसूत्र के अभी भी खिलता है।) जी रही रेखा, हालांकि मुकेश अग्रवाल से उनके ही फ़ार्म हाऊस में हुए प्रेम फिर शादी और फिर मुकेश की आत्म हत्या के प्रसंग को एक क्षड़िक सुनामी मान भूल जाया जाए तो भी रेखा ने दरअसल जैसे ढेरों रद्दी फ़िल्मों में काम किया कमोवेश उसी अनुपात में इधर-उधर मुंह भी खूब मारा। जिसकी कोई मुकम्मल फ़ेहरिस्त नहीं बनती। ठीक वैसे ही जैसे उन्होंने गिनती की कुछ श्रेष्ठ फ़िल्में कीं, कुछेक फ़िल्मों में सर्वश्रेष्ठ अभिनय किया। कमोबेश इसी अनुपात में सर्वश्रेष्ठ प्रेम भी उन्होंने किया और डंके की चोट पर किया। किरन कुमार, विनोद मेहरा, राज बब्बर, जितेंद्र, राजेश खन्ना, विनोद खन्ना, धर्मेन्द्र, शैलेंद्र सिंह, अमिताभ बच्चन और संजय दत्त, फ़ारूख अब्दुल्ला जैसे उनके प्रेम प्रसंग के तमाम बेहतरीन पड़ाव हैं। ठीक वैसे ही दो अंजाने, खूबसूरत, घर, उमराव जान, उत्सव और इज़ाजत उनकी बुलंद अभिनय यात्रा के उतने ही महत्वपूर्ण बिंदु हैं। बहुत ही महत्वपूर्ण।

दरअसल 1975 से 1985 तक का समय रेखा के लिए बड़ा महत्वपूर्ण है। इसी बीच वह अपने प्रेम प्रसंग के सब से महत्वपूर्ण पड़ाव अमिताभ बच्चन से जुड़ीं और लगभग उनकी हमसफ़र बन गईं। इन्हीं दस दालों में उन्होंने खूबसूरत, उमराव जान, उत्सव जैसी फ़िल्मों में काम किया और अपनी चुलबुली छवि को चूर किया। चूर उनके सपने भी हुए। सिलसिला आई और अमित जिन्हें वह बाद में 'वो' तक कहने लगी थीं, पहनने मंगलसूत्र भी लगी थीं, का संग साथ छूट गया। सहारा बने संजय दत्त। इन्हीं दिनों मुजफ़्फ़र अली की उमराव जान आ कर उन्हें जान दे गई थी। क्योंकि तब तक व्यावसायिक सिनेमा में नंबर वन की पोज़ीशन उनसे पंगा लेने लगी थी। लेकिन उमराव जान की सादगी ने उनकी शान बढ़ा दी थी। तभी एक रोज़ उनकी संजय दत्त से शादी की खबर आ गई। दिल्ली के एक सांध्य दैनिक ने सबसे पहले यह ख़बर न सिर्फ़ उछाल कर छापी बल्कि पहले पेज़ पर बैनर बना कर छापी थी मय फोटो के।

मुझे याद है तब प्रसिद्ध फ़िल्म पत्रकार अरविंद कुमार (फ़िल्मी पत्रिका माधुरी के संस्थापक संपादक जो तब सर्वोत्तम रीडर्स डाइजेस्ट के संस्थापक थे और मैं उनका सहयोगी था तब।) इस खबर से बड़ा उदास हो गए थे। इस लिए नहीं कि रेखा ने अपने से 12-13 बरस छोटे संजय दत्त से शादी कर ली थी। बल्कि इस लिए कि एक अभिनेत्री जो अब अभिनय के शिखर को छू रही थी, शादी के बाद से सेल्यूलाइड की दुनिया को सैल्यूट कर जाएगी।

हुआ भी यही। खैर तब की ठुकराई रेखा को फिर व्यापारी मुकेश अग्रवाल की छांव मिली, जो अन्ततः म गत ष्णा ही साबित हुई। हालांकि उन्हीं दिनों सारिका बिन ब्याह के ही कमल हासन के बच्चे की मां बनीं तब रेखा को कुछ लोगों ने कुरेदा तो वह अपने को रोक नहीं पाईं और धैर्य खो रहे लोगों को धीरज बंधाया कि, घबराइए नहीं बिन ब्याही मां नहीं बनूंगी, और अपना कहा वह दुर्भाग्य से ब्याह के बाद भी निभा नहीं सकी। शायद मात त्व सुख उनके नसीब में नहीं था। वह रेखा जो अपनी ही खिंची-गढ़ी रेखाओं से आड़े-तिरछे, तिर्यक, समानांतर-वक्र करती काटती रही हैं–

खैर, आप सत्तर के दशक की शुरूआत वाली उनकी उन फ़िल्मों की याद कीजिए जिनमें वह नवीन निश्चल, विश्वजीत, किरन कुमार, रणधीर कपूर, विनोद मेहरा, और फिर जितेंद्र और धर्मेंद्र के साथ हीरोइन रही हैं। जिनमें वह महज़ शो-पीस वाली, हीरो के गले से लिपट कर नाच कूद बस गाने गाती होती हैं। खिलंदडी, शोखी और चुलबुलाहट में तर, अभिनय की ऐसी-तैसी करती होती हैं। सावन भादों से लेकर अनोखी अदा, किस्मत तक की उनकी फिल्मी यात्रा (अभिनय यात्रा नहीं) भी दरअसल दूसरे, तीसरे दर्ज़े की फ़िल्मों में देह दिखाऊ यात्रा भी है। भले ही वह मैक्सी ही क्यों न पहने हों, या साड़ी ही सही उनके कुल्हें मटकने ही होते थे। भारी-भारी नितंब और स्तन दिखने ही दिखने होते थे। तब रेखा थुलथुल होती जा रही थीं। बाद में वह न सिर्फ़ वज़न कम करने में लग गईं बल्कि योगा पर भाषण भी भाखने लगीं। वही रेखा इसके बाद के दौर में अमिताभ बच्चन, जितेंद्र, विनोद खन्ना, शशि कपूर आदि की फ़ेवरिट हिरोइन होते-होते हेमामालिनी से नंबर वन की पोज़ीशन छीन बैठती हैं। तो लोगों को अचरज होने लगता है कि अरे ये तो वही रेखा है, वह जब जुदाई में जीतेंद्र के साथ बारिश में भीग कर जादू चलाती हुई गाती हैं, 'मार गई मुझे तेरी जुदाई, डस गई ये तन्हाई' तो सीटियां बजवाती हैं और उसी फ़िल्म में फिर व द्धा की भूमिका कर वह लोगों से आंसू भी बहवा लेती हैं। बाद में तो जीतेंद्र के साथ ढेरों फ़िल्मों में वह जवानी और बुढ़ापे दोनों की भूमिका में आईं।

अमिताभ बच्चन जब नंबर वन हुए तो उनकी लगभग हर तीसरी फ़िल्म की हिरोइन रेखा ही हुईं। मुकद्दर का सिकंदर बनी वह ही सलामे इश्क मेरी जा ज़रा कुबूल कर ले गाती रहीं। नटवरलाल में परदेसिया ये सच है पिया, सब कहते हैं मैंने तेरा दिल ले लिया भी वही गा रही थीं। लेकिन सच यह भी है कि अगर

सिलसिला जो इन दोनों की अब तक की अंतिम फ़िल्म है को छोड़ दें तो अमिताभ के साथ की गई रेखा की फ़िल्मों में रेखा की कोई यादगार या महत्त्वपूर्ण भूमिका याद नहीं आती।

हां, आलाप की याद आती है। शायद इस लिए भी कि अमिताभ की फ़िल्मों में हिरोइन के हिस्से कुछ बचता ही नहीं रहा है। (हालांकि अमिताभ अभिनीत ज़ंजीर, अभिमान, मिली शोले और कि एक नज़र भी जोड़ लेंगे जया उनकी हिरोइन हैं और अपनी उपस्थिति भी दर्ज़ कराती हैं, तो शायद इसलिए भी कि वह पहले से स्थापित और कि बड़ी हिरोइन हैं) तो सिलसिला में अमिताभ के बावजूद रेखा ने अभिनय की रेखाएं गढ़ीं तो सिर्फ़ इसलिए कि यहां विरह उनके हिस्से न था तो भी विरहिणी की सी आकुलता को उन्हें जीना था। जया और संजीव कुमार की उपस्थिति ने उसे और सघन बनाया। 'नीला आसमां खो गया' गा के उसे हेर लेना चाहती हैं। 'कुडी फंसे ना लंबुआ' के दिनों को फिर से फिरा लेना चाहती हैं। क्योंकि वह विरहिणी हैं पर हिरनियों सी कुलांच भी भरना जानती हैं। तो यह त्रासद संयोग और उस चरित्र की बुनावट को रेखा से भी सुंदर कोई बीन भी सकता था भला?

दरअसल मुझे लगता है कि रेखा विरह की ही नायिका हैं। जहां-जहां और जब-जब विरह उनके हिस्से आया है। विरहिणी को जिस कोमलता से वह 'बेस' देती हैं उनके समय की नायिकाओं में उनके मानिंद कोई और नहीं दीखती। विरहिणी की अकुलाहट की सघनता को घनत्व देने वाली नायिकाएं तो हैं। पर उसे सहजता भरी सादगी भी देने वाली? और उस सहजता में भी चुलबुलापन चुआने वाली?

मेरी मंशा यहां ऋशिकेश मुखर्जी की दो फ़िल्मों 'खूबसूरत' और 'आलाप' की याद दिलाने की है। 'खूबसूरत' जब आई तो लोग यकायक चकित हो चले कि क्या यह वही खिलंदड, थुलथुल (नमक हराम में भी यह रूप था रेखा का।) देह दिखाती, इतराती फिरने वाली रेखा? 'खूबसूरत' तो समूची फ़िल्म ही खूबसूरत थी। पर रेखा? रेखा के दो कैरियर का बदलाव ही इसी फ़िल्म से हुआ जो बाद में कलयुग, उत्सव, उमराव जान और इजाज़त में जा पहुंचा।

फिर आई मुज़फ़्फ़र अली की उमराव जान, उमराव जान में उनके हीरो थे फ़ारूख शेख और राज बब्बर, पर जैसे खूबसूरत फ़िल्म रेखा के ही इर्द-गिर्द घूमती थी, उमराव जान में केंद्रीय भूमिका ही उन्हीं की थी। पर जिस लयबद्धता में उमराव जान को उन्होंने अपने आप में उतारा, जिया और जीवन दिया कोई दूसरी अभिनेत्री उसे वह रंग शायद न दे पाती। उनकी विरहिणी का यही शोला 'उत्सव' में आ कर भड़क जाता है। 'मन क्यों बहका रे बहका आधी रात को' गीत में तो जैसे वह कलेजा काढ़ लेती हैं, शशि कपूर की गिरीश कर्नाड निर्देशित उत्सव हालांकि अपने कुछ उत्तेजक द श्यों के लिए ज़्यादा जानी गई और रेखा के बोल्ड सीन के आगे उनका अभिनय लोगों की आंखों में कम ही समा पाया। पर दरअसल रेखा के अभिनय का बारीक रेशा हमें उत्सव में ही मिलता है। अभिनय की जो बेला रेखा ने उत्सव में महकाई है वह हिंदी फ़िल्मों में विरल ही है। इसके कुछ ही समय बाद आई खून भरी मांग भी तहलका मचा गई थी और लोगों ने रेखा में बदले की आग ढूंढने की कोशिश की और उसमें सफलता भी पा ली। पर अगर आंख भर जो आप 'खून भरी मांग' की रेखा को देखें, रेखा की आंखों को देखें तो वहां विरहिणी की ही आंखें, हिरनी ही की आंखें आप को दिखेंगीं।

मुझे तो रेखा की आंखें दरअसल विरह में नहाई दीखती हैं। अब यह तो निर्देशक पर मुनःसर करता है कि वह उनसे क्या करवाता है? आप याद कीजिए मल्टीस्टार फ़िल्म नागिन की। जिसमें रेखा भी हैं। नागिन के दंश में डूबी उनकी आंखों में मादकता का महुआ और विरह का बिरवा एक साथ वेधता है तो लोग घायल भी होते हैं और पागल भी। फिर तेरे इश्क का मुझ पे हुआ ये असर है गाना सोने पर सुहागा का काम कर जाता है। नहीं होने को इस फ़िल्म में रीना राय, योगिता बाली आदि अभिनेत्रियां भी हैं पर वह, वह कमाल नहीं दिखा पातीं जो रेखा कर गुज़रती हैं। नहीं करने को तो उन्होंने विनोद पांडेय की एक घटिया सी फ़िल्म एक नया रिश्ता राजकिरण के साथ की, पर विनोद पांडेय उनकी विरहिणी आंखों को न तो बांच पाए, न ब्यौरा दे पाए। जब कि रेखा अपनी शुरूआती फ़िल्म धर्मा तक में– जिसमें नवीन निश्चल हीरो हैं, अपनी आंखों का खूब इस्तेमाल किया है। इस फ़िल्म में एक कौव्वाली है, 'इशारों को अगर समझो, राज़ को राज़ रहने दो' है तो प्राण और बिंदू के हिस्से पर विषय रेखा ही हैं और तिस पर इसमें उनकी आंखों का ब्यौरा बांचना व्याकुल कर जाता है। यहां तक कि कई फिसड्डी फ़िल्मों जैसे कि 'माटी मांगे खून' जिसमें कि शत्रुघन सिन्हा उनके हीरो हैं या फिर किला जिसमें दिलीप कुमार उनके हीरो हैं जैसी बहुतेरी फ़िल्में हैं जहां उनकी आंखों, बौराई आंखों का अच्छा ट्रीटमेन्ट है। खास कर गुलाम अली द्वारा गाए गीत 'ये दिल, ये पागल दिल मेरा' फ़िल्माया भले शत्रु पर गया है पर फ़ोकस रेखा और उनकी आंखों पर ही है।

मैं जो बार-बार रेखा की आंखों में विरह की लौ बार-बार जला-जला दिखा रहा हूं तो आप कतई संभ्रम में न पड़ें कि रेखा की आंखें विरह का ही बिरवा बांधे रहती हैं हमेशा ऐसा भी नहीं है। उनकी आंखों में मस्ती भी है और मादकता भी भरपूर। तभी तो मुज़फ़्फ़र अली को उमराव जान में शहरयार से रेखा की आंखों की ख़ातिर एक पूरी ग़ज़ल ही कहलवानी पड़ी, 'इन आंखों की मस्ती के मस्ताने हज़ारों हैं।'

बात भी सच है, और यह शम्मअ-ए-फ़रोज़ा किसी आंधी से डरने वाली भी नहीं है। यक़ीन न हो तो किसी अमिताभ बच्चन– वच्चन से ही नहीं, शहरयार से पूछ लीजिए। आमीन!

dayanand. pandey@yahoo.com

● ● ●

सुप्रसिद्ध कहानीकार व समीक्षक। एक सौ पच्चीस कहानियां हिन्दी की श्रेष्ठ साहित्यिक पत्रिकाओं में प्रकाशित। पंखहीन, समय रेत और फूकन फूफा व सोनपरी का तीसरा अध्याय तीन कहानी संग्रह प्रकाशित।
संपर्क : जी. वन. टी.–257, अरमापुर इस्टेट, कानपुर– 208009 (उ०प्र०)
मो० : 09651670106

एक आग का दरिया है....

हीर-रांझा, लैला-मजनू, सोहनी-महिवाल, शीरी-फरहाद, रोमियो-जूलियट.... प्रेम के ये अमर प्रेमी-युगल आज भी याद किए जाते हैं। तमाम यातनाओं और सामाजिक तिरस्कार के बावजूद इन्होंने अपने प्रिय का दामन नहीं छोड़ा। अपनी जुबां पर एक-दूसरे का नाम लेते-लेते इस दुनिया से फ़ना हो गये। यह असफल प्रेम था, जो उन्हें अमर बना गया। एक बहुत पुरानी कहावत याद आ गई– 'भूख न जाने जूठा भात, नींद न जाने टूटी खाट और प्रीत न जाने जात-कुजात।' यह प्रीत अर्थात प्रेम आखिर है क्या? भावनाओं का उद्वेग, दैहिक आकर्षण या एक प्रकार का मानसिक विकार। जिसमें आदमी अपना सुध-बुध खो बैठता है। न उसे अपनी चिंता होती है और न समाज का भय। बस उसे हर समय एक ही चिंता होती है, किसी प्रकार उसे अपने प्यार का दीदार हो जाये। प्रेम के इन तमाम सवालों का जवाब आपको खुद-ब-खुद मिल जायेगा, जब आप वरिष्ठ कथाकार राजेन्द्र राव की नई पुस्तक 'पाप पुण्य से परे' पढ़ते हैं।

उक्त पुस्तक में लेखक की दस कहानियां संकलित हैं। दस असफल प्रेम कहानियां.. आठवें दशक में लिखी गई ये कहानियां कभी प्रेम कहानियों की ंखला के रूप में प्रकाशित हुई थी और तब पाठकों का एक बड़ा वर्ग इन कहानियों का दीवाना हो गया था। खुद मैत्रेयी पुष्पा ने लिखा है– ''असफल प्रेम की छह कहानियां 'साप्ताहिक हिंदुस्तान' में तब छपी थीं, जब हम घूंघट में रहा करते थे। हमारा नाम था फलां की दुल्हन, फलां की बहू। मगर बहुओं की पर्देदारी देखिए कि हम कहानीकार राजेन्द्र राव की एक कहानी पढ़ते और अगली किस्त का बेताबी से इंतज़ार करते।' (प ष्ठ सं. 6)

सचमुच यह कहानियां ऐसी ही हैं। जरा कल्पना करें उस समय की, जब न मोबाइल था न ही इंटरनेट जैसी सुविधा थी। प्रेमी युगल के पास अपने दिल का हाल बयां करने का बस ख़त ही एक साधन था। यह ख़त पहुंचाना भी कोई आसान काम नहीं था। लेकिन उस ख़त को एक दूसरे तक पहुंचाने के लिए वो दीवाने प्रेमी कोई न कोई जुगाड़ ढूंढ़ ही लेते थे।

कहानी 'प्यार की परछाई' में यदि प्रेम-पत्र रखने की जगह सीढ़ी के पास थी– 'यानी जीने की दूसरी सीढ़ी पर आदमी की ऊंचाई से थोड़े कम पर बना, एक ईंट के आकार का आला। राज-मिस्तरियों का तकनीकों के फलस्वरूप छूट गया एक ब्लाइंड-होल। इसी में पत्र रखे और उठाये जाते थे।' (प ष्ठ सं.94) तो कहानी 'प्यार देंगे, दिल का दर्द लेंगे' में मंदिर का चबूतरा पोस्ट आफिस का काम कर रहा था– 'फिर खत लेने-देने का निरापद तरीका ढूंढ़ा गया। मंदिर के चबूतरे के कोने पर एक ढीली ईंट थी। देखने से मालूम नहीं पड़ता था। उसके नीचे खत रखे जाने लगे।' (प ष्ठ सं. 158) 'मुड़कर नहीं देखा' में जीव-विज्ञान की नोट-बुक ही पत्रों को एक-दूसरे तक पहुंचाने का साधन बनी थी।

ये कहानियां यूं तो पहली नज़र में निम्न मध्यवर्गीय परिवारों में पले-बढ़े युवाओं की विपरीत लिंगी के प्रति दैहिक आकर्षण की कहानियां लगती हैं किंतु राजेन्द्र राव की सिद्धहस्त लेखनी का जादू कहें, हर कहानी मानव मन की रहस्यमय गुफ़ाओं में झांकती हुई प्रेम के नेपथ्य के उस राग से परिचित कराती है, जिसे हम सिर्फ़ महसूस ही कर सकते हैं। आखिर प्रेम की दीवानगी को वह ऊर्जा कहां से मिलती है, जो वह लोक-लाज व सामाजिक बंधनों से मुक्त सिर्फ़ अपने माशूक की बांहों में समाने के लिए बेताब रहते हैं। 'पाप-पुण्य से भरे...' की नायिका को ही ले लें जो अपने दोनों बच्चों और पति सबको त्याग देती है– सिर्फ़ अपने प्यार के लिए। 'सच, उनकी आत्माएं दिन-रात लोक-लाज जैसी हस्तियों के कोड़े खाती रहती थीं। वे उफ न करते। चुपचाप सहते। और प्यार में डूबते जाते। और पीड़ा तथा प्यार। यातनाघरनुमा अरमानों का महल, जिसमें वे रहते रहे।' (प ष्ठ सं. 25)

'प्रेम की परछाइयां' का 'देव' भी शादी-शुदा है। पर वह अपनी 'वहीदा' से गंधर्व विवाह कर लेता है। कैसी बचकानी हरकत है? सब कुछ जानते हुए भी आग से खेलने की हिमाकत– 'मेरी बाहों में मेरा चांद था। मेरी सोहनी! मेरी वहीदा! बुखार में तपती वहीदा। होंठो पर खुश्क पपड़ियां और सांसों में मीठी आग। प्रणय नद के प्रवाह में हम बहते गए। बहते गए।' (प ष्ठ सं. 99)

रीता और जार्ज की कहानी भी कुछ ऐसी ही हैं। विवाहित रीता को दिल दे बैठता है जार्ज। और रीता भी उसे अथाह प्यार करती है। यहां तक की उसके बच्चे की मां भी बन जाती है। पर प्यार का अंत यहां भी दुखद ही है। फिर भी एक आस है जार्ज

के पास– 'रीता अभी तक मसूरी में ही है। सुना है वहां किसी स्कूल में सर्विस मिल गई है। मेरे पास न तो उसका कोई ख़त आया, न मैंने लिखा। हां इतना ज़रूर जानता हूं कि एक दिन वह लौटकर आएगी और मेरे पास आयेगी।' (प ष्ठ सं. 93) 'चंद तस्वीरें बुतां' की यह कहानी भी कम मार्मिक नहीं है। जार्ज का हंसता-खेलता जीवन अभिशप्त हो जाता है।

यदि प्यार है तो बे-वफाई भी। कभी सामाजिक मज़बूरियां बेवफाई के लिए बाध्य करती है। लेकिन नायिका इस बात को कहां समझ पाती है। कहानी 'पाप पुण्य से परे...' में तो यही होता है– 'आज तक तो सारी दुनिया वाले ही उन्हें कुलटा और चरित्रहीन समझते थे, आज वह भी यही समझने लगा था, जिसके लिए उन्होंने सब कुछ किया। ज़िंदगी के सारे मूल्य ठुकरा दिए थे।' (प ष्ठ सं. 34)

कभी दैहिक आकर्षण से मोह भंग होने के बाद कथित बंधन से मुक्ति की छटपटाहट बेवफाई में बदल जाती है– प्रेम ने मेरे सामने निष्कर्ष के तौर पर स्वीकार किया कि वह इस लंबे प्रणय संबंध से 'यकायक ऊब गया-सा' अनुभव करने लगा था। उसके मन की और शरीर की उसने थाह पा ली थी। बीसियों बार।' यह स्वीकारोक्ति 'प्यार देंगे, दिल का दर्द लेंगे. ..' के कथा नायक प्रेम की है।

सामाजिक दबाव कभी इतना भारी पड़ता है कि संबंधों की परिभाषा बदलनी पड़ती है। भले यह सहज नहीं लगता, लेकिन 'सुधा और सुरेश' की कहानी में ऐसा ही होता है– 'रक्षाबंधन के दिन सुधा उनके घर आई। सुरेश यह देखकर हैरान रह गए कि वह उनको राखी बांधने आई थी। शायद अपने और उनके संबंध को नए सिरे से परिभाषित करने के लिए। राखी बांधते समय उसके कपोलों पर दो बूंद आंसू ढुलकर उस तश्तरी में आ पड़े, जिसमें रोली-चावल रखे थे।' (प ष्ठ सं. 140)

'मुड़ कर नहीं देखा' में एक स्कूल अध्यापक से किशोर वय की छात्रा के आकर्षण की कहानी है। जो धीरे-धीरे प्रेम में बदल जाती है। इस प्रेम की दीवानगी कोई गुल खिला पाती, इससे पहले ही दबंग पिता को पता चल जाता है।

'शायद वह आ जाय' में नायिका के घर पहुंचने पर लेखक ने जो महसूस किया, वह उसी के शब्दों– 'उफ! तबाह हुए घर का दरवाज़ा किस कदर सहमा-सहमा और ख़ामोश होता है, मानो दरवाजा न हो, फंदे मे झूलता शव हो।.... चूं तक नहीं करता। धोखा खाए दरवाज़े चरचराना छोड़ देते हैं।' (प ष्ठ सं. 39)

एक आशा है उस परिवार में वह एक दिन ज़रूर आयेगा। और अपनी पत्नी और उसके बेटे को भी अपनायेगा। जो अभी समाज़ के लिए 'कुंवारी मां' है।

हालांकि की सभी कहानियां का कथानायक असफल प्रेम है। इसके बावजूद हर कहानी की प्रस्तुति इतनी भिन्न है कि पाठक को कहीं उबन महसूस नहीं होती है और वह पात्रों को अपने परिवेश से कहीं न कहीं जुड़ा हुआ पाता है।

समाज में तेज़ी से बदलाव आया है। प्रेम पर चर्चा करना अब वर्जित नहीं रहा। ब्वाय फ्रेंड और गर्ल फ्रेंड की लंबी श्रंखला आज के युवाओं के साथ जुड़ी है। इंटरनेट और मोबाइल पर अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता है। बाज़ार का एक अद श्य दबाव और संवेदनाओं के भोथरे होते जाने के बावजूद जब तक मनुष्य है, तब तक प्रेम भी किसी न किसी रूप में रहेगा वह दीवानगी भी होगी और पूरी शिद्दत से प्रेम में होने वाली बेवकूफियां भी। भले ही इसका स्वरूप परिवेश के अनुसार बदल जाय। और 'पाप पुण्य से भरे' में संकलित कहानियों का प्रासंगिकता भी कभी ख़त्म नहीं होनी है।

प्रेम की कोई मुकम्मल परिभाषा हो ही नहीं सकती। यह सिर्फ़ और सिर्फ महसूस करने की बात है। आंखों पर एक ऐसा चश्मा लग जाता है, जो दुनिया को देखने का नज़रिया ही बदल देता है। पाप-पुण्य, नैतिक-अनैतिक और तमाम दुनियावी संबंध बेमानी हो जाते हैं। तब न खुद की परवाह होती है न समझ के तिरस्कार का भय। इस पुस्तक को पढ़ने के बाद बस यही कहा जा सकता है– यह इश्क नहीं आसां इतना ही समाज लीजै। इक आग का दरिया है और डूब के जाना है।

१. पाप से परे, लेखक : राजेन्द्र राव
मूल्य : दो सौ पच्चीस रुपये
प्रकाशक : किताब घर नई दिल्ली

अखबार की दुनिया का सच

बाज़ार के दबाव ने धीरे-धीरे हमारे सामाजिक जीवन पर अपना शिकंजा कसना शुरू कर दिया और नैतिक-अनैतिक की परिभाषा बदलने लगी। आज राजनीति, शिक्षा, चिकित्सा यहां तक की मीडिया का स्वरूप भी बदल चुका है। सिद्धांतविहीन और निरंतर अवमूल्यन के इस दौर में पैसा केन्द्र में हो गया है। सेवा भावना का ह्रास और अपराधिक चरित्रों का नायकत्व इस बाज़ार की ही देन है। ऐसे में लोकतंत्र का चौथा स्तम्भ कहे जाने वाला मीडिया भी प्रभावित हुए बिना नहीं रह पाया। इलेक्ट्रानिक मीडिया जहां टी.आर.पी. के दबाव में है वहीं प्रिंट मीडिया अपने संस्करण और सरकुलेशन के दबाव में है। अखबार अब प्रोडक्ट हो गया है। इन सब दबाबओं का ख़ामियाज़ा मीडियाकर्मियों को भुगतना पड़ रहा है।

ऐसे ही मीडियाकर्मियों की व्यथा कथा है– दयानंद पाण्डेय का नया प्रकाशित उपन्यास 'हार्मोनियम के हज़ार टुकड़े'। लेखक खुद प्रिंट मीडिया के आदमी हैं। उसके पास अख़बार का एक लंबा अनुभव है। मीडिया कर्मियों को टूटते बिखरते देखा है और इस उपन्यास के माध्यम से उनकी व्यथा को शब्द देने की एक सफल कोशिश की है।

'आज़ाद भारत' नामक अख़बार का पतन और उसमें काम करने वाले कर्मियों के माध्यम से लेखक ने एक ऐसे सच से परदा उठाने का प्रयास किया है जो आम पाठक को चौंकाता है। इस उपन्यास के बहाने लेखक ने पाठकों के सामने कई सवाल खड़े कर दिये हैं। दूसरों के अधिकारों के लिए आवाज़ उठाने वाला मीडियाकर्मी खुद कितना निरीह व बेबस है। इसके लिए वह कहीं न कहीं खुद भी जिम्मेदार है। साथ ही वे कथित मालिक भी, जो अपने निजी लाभ के लिए अख़बार का इस्तेमाल करने से नहीं चूकते। जब लेखक 'आज़ाद भारत' अख़बार के सफलतम समय का जिक्र करता है तो वह उसका श्रेय तत्कालिक संपादक को देना नहीं भूलता। क्योंकि किसी अख़बार में सम्पादक का पद बहुत गरिमापूर्ण होता है। उपन्यास में पहले के संपादकों के बारे में लेखक ने लिखा है– 'खैर, अख़बार चाहे जैसा था संपादक अच्छे थे और खासे कड़ियल। किसी के आगे झुकते नहीं थे। उस समय संपादक नाम की संस्था थी भी। उसने बहुत तेरे संपादक देखे और भोगे थे पर ऐसा संपादक तो भूतों न भविष्यति। राजनीति, साहित्य, खेल, साइंस, कामर्स, ज्योतिष, सिनेमा यहां तक कि खगोल शास्त्र पर भी वह हमेशा अपडेट रहते थे।' (प ष्ठ सं. 10)

जब अख़बार में मालिकों की नई पीढ़ी आयी तो अख़बार का स्वरूप बदलने लगा। वह अख़बार नहीं पढ़ते, पर ख़बरों पर उनका हस्तक्षेप ज़रूर होता। अख़बार की नीतियां बदल गई। पुराने संपादक ने अख़बार छोड़ दिया। साथ ही अख़वार का पतन भी शुरू हो गया। नये संपादकों के बारे में लेखक लिखता है–

'नया संपादक मुख्यमंत्री का सिफ़ारिशी था। मुख्यमंत्री ने उसे संपादक बनाने के लिए कई लाख रुपये विज्ञापन के मद में एडवांस सूचना विभाग से अख़बार को दिलवा दिए।' (प ष्ठ सं.18)

'एक प्रतिद्वंदी अख़बार में एक नया आया संपादक, जो अपने अख़बार लगभग सर्वेसर्वा बन कर आया था, हाकर स्ट्रेटजी में लग गया। सुबह-सुबह हाकरों को शराब बांटता, घड़ी, पंखा से लगाकर मोटरसाइकिल तक इंसेंटिव में देता।' (प ष्ठ सं. 18)

अख़बार में मीडियाकर्मियों के अधिकारों के लिए लड़ने वाली एक यूनियन भी थी। अख़बार की यह यूनियन तब कड़ियल थी। प्रबंधन से अपना हक लेना जानती थी। पुस्तक में अखबार के पतन के साथ यूनियन के भी बिखरने की भी व्यथा है।

'वैसे ही यूनियन का एक ख़ास हिस्सा था लखन। लखन था तो अख़बार का पेस्टर। पर जब यूनियन का जलसा होता सालाना हो या कोई और, हड़ताल हो या कोई तात्कालिक मोर्चा! हर किसी मौके पर गले में हार्मोनियम लटका कर जब वह माइक के सामने खड़ा होता तो क्रांति का जैसे बिगुल फूंक देता।' (प ष्ठ सं. 12)

सूर्य प्रताप जैसा जुझारू पत्रकार का भी चित्रण है। जो तमाम संभावनाओं के साथ अख़बार ज्वाइन करता है। लेकिन धीरे-धीरे उसी भ्रष्टतंत्र का अंग बन जाता है।

'टूटते हुए सूर्य प्रताप को मनमोहन कमल ने दलाली का स्वाद चखा दिया। सूर्य प्रताप को भी लगा कि अब संघर्ष में कुछ नहीं है। सुनील जैसे लोग जब तब सूर्य प्रताप को टोकते तो वह कहता, 'अब क्या करें। इन्हीं सालों का ज़माना आ गया है।' (प ष्ठ सं. 73)

दरअसल दूरदराज के गांवों से आए यह नौजवान मीडिया में बैठे 'भइया' जैसे अजगरों द्वारा अपने हित में इस्तेमाल किए जाते हैं। उन्हें पता ही नहीं चलता और वह धीरे-धीरे व्यवस्था के दलाल के रूप में बदल जाते हैं।

पुस्तक में फिर एक ऐसे दौर का जिक्र किया गया है जब मीडिया को सत्ता में हनक बनाने और लाभ का धंधा समझकर बिल्डर, माफ़िया और चिट फंड कंपनियों के मालिक भी अख़बार औ टी.वी. चैनल की दुनिया में पांव पसारने लगे थे। यह उनके लिए मात्र लाज़यनिंग का प्लेटफार्म भर था। प्रिंट मीडिया में

तकनीकी रूप से भी बदलाव आ रहा था। पेस्टर, प्रूफ़ रीडर और कंपोज़ीटर जैसे पद बेमानी हो चुके थे।

पुस्तक के अंत में अख़बारों के बदलते स्वरूप का जिक्र करते हुए लेखक ने कहा है– 'वैसे भी अख़बारों में अब बहुत कुछ बदल गया था। अख़बारों से संपादक नाम की संस्था विदा हो चुकी थी। संपादकीय विभाग की सुपीरियटी पर अब मैनेजमेंट न सिर्फ़ हावी हो गया था, बल्कि बकायदा चढ़ाई किए रहता। खबरें अब पैसा लेकर छापी जाने लगी थीं और खुल्लमखुल्ला। रेट कार्ड छाप कर। पेड न्यूज़ बनाकर। कोई परदेदारी नहीं। एडीटोरियल पर ऐडवोटोरियल भारी पड़ गया था।' (पृष्ठ सं. 87)

'हारमोनियम के हज़ार टुकड़े' मीडिया और मीडियाकर्मियों की उत्थान और पतन की ही कहानी नहीं है। इस लघु उपन्यास में उसके संघर्षों को भी रेखांकित करने का प्रयास किया गया। आज भी मनमोहन कमल और भइया जैसे लोग जहां मीडिया में बैठकर मलाई काट रहे हैं। वहीं पत्रकार और स्ट्रिंगर की फौज अपने अस्तित्व को बचाने के लिए संघर्षरत हैं।

यह अख़बार के पतन की पराकाष्ठा थी। नया संपादक अपराधी था। उस पर हत्या के चार-चार मुकदमे चल रहे थे। प्रबंधकों ने उसे नियुक्ति ही इस लिए किया था कि वह अख़बार के पुराने कर्मियों को बाहर निकाल दे। संपादक और उसके साथी इन कर्मियों की आवाज़ दबाने के लिए हारमोनियम को ही तोड़ डालते हैं और इसी के साथ शिथिल पड़ जाती है हक वह लड़ाई और छिन जाता है उनके मुंह से निवाला।

'संपादक धरना मंच पर आ गया। लखन को एक लात मारी वह लुढ़क गया। फिर उसके हारमोनियम पर वह टूट पड़ा। बोला, 'ई पिपिहिरी बजा-बजा के नींद हराम कर दी है सालों ने। हारमोनियम को दो लात मार कर उसने मंच से उठा कर नीचे फेंक दिया। हारमोनियम टूट गया। कई-कई टुकड़ों में।' (पृष्ठ सं. 79)

हरमोनियम के टुकड़े हज़ार
लेखक : दयानंद पाण्डेय
मूल्य : एक सौ पचास रुपये
प्रकाशक : जनवाणी प्रकाशन प्रा० लि०
विश्वास नगर दिल्ली–32

फ्रेयर ने यह भी बताया था कि उस अदृश्य लड़के की,
पास के ऊंचे पीपल की फुनगी से आने वाली आवाज़ ने यह भी कहा था कि दो सौ सालों बाद जब अंग्रेज मालामाल होकर वापस अपने वतन इंग्लैंड लौटेंगे तब इण्डिया में उनके जैसे ही नेटिवों का राज होगा। वे लोग वहीं खायेंगे जो अंग्रेज खाते हैं, वही पीयेंगे जो अंग्रेज पीते हैं, वही भाषा बोलेंगे जो अंग्रेज बोलते हैं। उनके कपड़े, विचार, स्वप्न और आकांक्षाएं अंग्रेज होंगी। वे हर इण्डियन चीज़ से घृणा करेंगे, वे इण्डिया को उनसे भी ज़्यादा लूटेंगे, जितना विदेशी कम्पनियों ने लूटा है।

वारेन हेस्टिंग्स का सांड : उदय प्रकाश

मुंबई के कैनवास पर खींचा गया अद्‌भुत चित्र

मुंबई और वहां की फिल्मी दुनिया का ग्लैमर, युवाओं के लिए सदैव आकर्षण का केंद्र रहा है। यही आकर्षण उन्हें मुंबई की तरफ खींचता है और वह भागे चले आते हैं। फिर शुरू होता है संघर्ष का लंबा दौर। सफलता और असफलता के बीच झूलते हुए वे या तो मुंबई की भीड़ में खो जाते हैं या फिर निराश होकर वापस अपने शहर लौट जाते हैं। बहुत कम ऐसे भाग्यशाली होते हैं, जिन्हें मुंबई रास आती है और वो अपनी पहचान बनाने में सफल हो पाते हैं। ऐसा ही एक नौजवान है संपूरन ओबराय।

संपूरन ओबराय। यानि ओबी एक ऐसा नौजवान जिसका पिता रिटायर कर्नल है। जिसके मामाओं का सूखे मेवे का कारोबार है। जो चाहते हैं कि उनका भांजा उनके इस व्यापार में उनकी मदद करे। पठान-कोट के एक संपन्न परिवार का यह बेटा फिल्मों में भाग्य आजमाने ख़ाली जेबों के साथ मुंबई आ जाता है।

जी हां ! मैं रवीन्द्र कालिया के नये उपन्यास '17 रानडे रोड' के मुख्य पात्र की बात कर रहा हूं। इस उपन्यास का संपूर्ण तानाबाना इस पात्र को केन्द्र में रख कर बुना गया है। इस उपन्यास का परिवेश सातवें दशक के शुरूआत का है। उपन्यास में इसका उल्लेख इस प्रकार है–

'यह सातवें दशक की शुरूआत के दिन थे, जब सोना सौ रुपये तोला था और मुंबई, बम्बई के नाम से जाना जाता था। कुछ लोग इसे बाम्बे भी कहते थे। टैक्सियों का न्यूनतम भाड़ा साठ पैसे हुआ करता था।' (प ष्ठ सं.19)

'यह उस दौर का जिक्र है जब मनोरंजन के संसार में रेडियो का बोलबाला था। रेडियो के समाचार वाचक और एनाउंसर युवा पीढ़ी के हीरो हुआ करते थे।' (प ष्ठ सं. 7)

सम्पूरन ओबराय का बंबई में कोई ठिकाना नहीं है। वह अपने मित्र स्वर्ण सिंह के साथ एक लाज में रहता है तथा लेमिंगटन रोड पर 'क्लिफ़्टन पार्क एंड ली' के दफ्तर में 'लाइफ' और 'टाइम' जैसी पत्रिकाओं का वार्षिक ग्राहक बनाने का काम करता था। एक दिन मि. क्लिफ्टन की म त्यु हो जाती है और मिसेज़ क्लिफ्टन कंपनी बंद करके वापस अपने देश चली जाती हैं। इसी बंद कंपनी के एक छोटे कमरे से संपूरन ओबराय बिना किसी अनुभव के सिर्फ आत्म विश्वास के सहारे वह अपना काम शुरू करता है। वहीं से शुरू होती है सफलता/असफलता की रोमांचक कहानी। जिसे कालिया जी ने इतने कलात्मक ढंग से व्यक्त किया है कि कुछ भी अविश्वसनीय नहीं लगता है।

सफलता तक पहुंचने के लिए ओबी को कितने पापड़ बेलने पड़ते हैं? निराशा और असफलताओं के बीच किस प्रकार वह अपनी मंजिल तक पहुंचता है। उसकी लंबी दास्तान है।

'पूरी बम्बई दौड़ रही है। सड़क के दोनों ओर गाड़ियों का हुजूम था। हर कोई भाग रहा था, जैसे बहुत जल्दी में हो। सम्पूरन को लगा जैसे सारी बंबई गतिशील है और वही जड़वत् है। वह लम्बे-लम्बे डग भरता हुआ वापस पार्किंग ओर बढ़ गया। उसे न अपनी गाड़ी का रंग याद था न नम्बर।' (प ष्ठ सं. 197)

कालिया जी के इस उपन्यास में ढेर सारे चरित्र हैं। पुस्तक की शुरूआत रेडियो स्टेशन के पात्रों से होती है। जहां एनाउंसर प्रकाश चौधरी, स्क्रिप्ट राइटर सुदर्शन पुरुषार्थी, स्टेशन ड़ायरेक्टर सोहन अवस्थी, केन्द्र निदेशक भटनागर और संगीत की प्रोड्यूसर नीलिमा अधीर इत्यादि हैं। समाज में सब चरित्र सहज दिखाई देते हैं। नीलिमा अधीर के बारे में लिखा है– नीलिमा अधीर एक चिर कुमारी थी। कुछ लोगों की राय थी कि वह एक राष्ट्रीय पार्टी के अध्यक्ष की चहेती थी और उनकी सिफ़ारिश से ही इस पद पर पहुंची थी, जबकि उसे न तो संगीत की जानकारी थी और न श्रव्य माध्यम का कोई अनुभव।' (प ष्ठ सं. 8)

सुदर्शन पुरुषार्थी उभरते हुए शायर भी थे। वो फिल्मी जगत में गीतकार बनने के लिए मुंबई आए थे और सम्पूरन ओबराय के पेइंग गेस्ट के रूप में रहना शुरु कर दिया।

सम्पूरन जिस मकान में रहता है वह एक भूतहा फ्लैट था। जिसके बारे में में पुस्तक में कई जगह चर्चा की गयी है। सम्पूरन ने भी सुदर्शन पुरुषार्थी से यही बताया था– ''इस बिस्तर पर हमारे लैंड लार्ड ने आत्महत्या की थी। मधुमति (प ष्ठ सं. 79 पर मधुमालती) यहीं पागल हुई थी।'' उसने कहा, ''शायद यही वजह है कि इस मकान को 'भुतहा' करार देकर छोड़ दिया गया। यह तो मेरी हिम्मत है जो इस भुतहे मकान में बगैर डर के रह रहा हूं। किराया भी नाममात्र है, मात्र चौंतीस रुपये। बम्बई में सात-आठ सौ से कम पर सी-फेस पर ऐसी जगह न मिलेगी।'' (प ष्ठ सं. 26)

जब सम्पूरन ओबराय ने इस फ्लैट को लेना चाहा था तो फ्लैट के लकवाग्रस्त मालिक जाड़िया की पत्नी ने भी सम्पूरन को ऐसा ही कुछ कहा था– 'उसी फ़्लैट ने इनकी यह हालत की है। वह भुतहा फ़्लैट है। उसमें इतनी दुर्घटनाएं हो चुकी हैं। मर्डर, स्यूसाइट, बलात्कार, विक्षिप्तता, मुकदमेबाज़ी के अलावा इसमें रहने वालों का दिवाला तक पिट चुका है।' (प ष्ठ सं. 76-77)

यह भुतहा फ़्लैट शिवाजी पार्क में सी फेस पर है और इसका पता है– 17 रानडे रोड। सम्पूरन और 17 रानडे रोड के बीच घूमती कहानी में कई पात्र धीरे-धीरे जुड़ते चले जाते हैं।

होज़री की दुकान का मालिक के. सी. मलकानी। जो इस उपन्यास का अतिथि पात्र चार है। मलकानी से सम्पूरन की मुलाकात के बाद ही सम्पूरन के व्यक्तित्व की झलक पाठकों को मिल जाती है। स्वर्ण सिंह एक पंजाबी पत्रिका का संपादक है। यह उपन्यास का अतिथि पात्र दो है। सम्पूरन मुंबई आने के बाद उसी के साथ एक लाज में रहता था। सुप्रिया, सम्पूरन की रिशेप्सनिस्ट कम सेकेट्री जो बाद में मित्र और उड बी वाइफ...और फिर पत्नी। जिसकी एक अलग कहानी है। सुप्रिया अपने दो भाई, एक भाभी, एक बहन और माता-पिता के साथ एक छोटे से कमरे में रहती हैं। कालिया जी ने उपन्यास में सुप्रिया के चरित्र और उसके परिवेश का भी बहुत बारीक चित्रण किया है।

'भाभी ठीक दस बजे पर्दा गिरा देती है और फिर शुरू हो जाती है खुसुर-फुसुर। घर के तमाम लोगों के कान इसी खुसुर-फुसुर को समझने की कोशिश करते हैं। भाभी के कंगन की आवाज़ से ही अनुमान लगाया जा सकता है कि अब साड़ी उतार रही हैं, अब अन्तर्वस्त्र। पास में लेटा छोटा भाई कुछ बुदबुदाता है, लगता है गाली दे रहा है। सुप्रिया की मां उसके बाप के कान में कुछ फुसफुसाती है।.....' (प ष्ठ सं. 162)

इसी नरक से मुक्ति के लिए सुप्रिया नौकरी करना चाहती है। एक साधारण मराठी परिवार की यह लड़की भाई के तमाम विरोध के बावजूद घर के बाहर कदम रखती है और नौकरी की तलाश में सम्पूरन ओबराय की कंपनी में पहुंच जाती है।

सम्पूरन का मित्र डैंगसन, जो एक कंपनी में अधिकारी है और अपनी पत्नी से अलग मुंबई में रहा है। उसकी पत्नी अपनी पेंशन वाली नौकरी नहीं छोड़ना चाहती है। शिवेन्द्र, इनकम टैक्स का भूतपूर्व अधिकारी, एक असफल फिल्म का प्रोड्यूसर तथा रेस के घोड़ों का मालिक। रेलवे विभाग के हिंदी अधिकारी शुक्ला जी और उनकी पत्नी। दुरैस्वामी, एक ऐसा तांत्रिक जो सी फेस के उस भुतहा बंगले को प्रेत मुक्त करने का दावा करता है। पानी के जहाज का कप्तान चन्नी और उसकी बेवफ़ा पत्नी। प्रत्येक की अपनी एक अलग कहानी है और हर कथा उतनी ही रोचक। फिर यह सारे पात्र किसी न किसी रूप में उपन्यास के मुख्य पात्र से जुड़ते हैं। 17 रानडे के सभी पात्र महज़ किसी उपन्यास के पात्र ही नहीं हैं। बल्कि अपने समय के कड्डुए सच का भी दर्शन कराते हैं। चन्नी के पड़ोसी के बारे में ही ले लीजिए–

'चन्नी के पड़ोस में मुंबई के लोकप्रिय साप्ताहिक 'अग्निवर्षा' के संपादक मुनीश्वर सिंह गहलौत रहते थे। भयादोहन के बल पर उन्होंने मुंबई में दस वर्षों के भीतर फ्लैट, गाड़ी और फोर्ट में दफ़्तर की व्यवस्था कर ली थी। वह केवल मुख्यमंत्री को पटाकर रखते थे, बाकी पूरी व्यवस्था के बखिया उधेड़ा करते थे।' (प ष्ठ सं. 99)

उपन्यास में यूं तो कई रोचक प्रसंग हैं। ज़रीवाला के साफ्ट ड्रिंक का एड बनाना और उस ऐड पर देसाई द्वारा मीनमेख निकालना। दुबारा शूटिंग के लिए मॉडल का उपलब्ध न हो पाना। जब विज्ञापन के सारे विकल्प समाप्त हो जाते हैं तो सम्पूरन ओबराय का तेज़ दिमाग एक नया विकल्प खोज़ ही लेता है।

टी.वी. सीरियल के एप्रुव्ड का प्रसंग ही लें। जब सुप्रिया हताश होने लगती है तो ओबी अपने उसी आत्मविश्वास के साथ कहता है– ''तुम जी छोटा न करो डार्लिंग।'' सम्पूरन ने सुप्रिया से कहा ''मुझे अपने पर पूरा भरोसा है। जब बम्बई आया तो जेब में सिर्फ बीस रुपये थे, आज मेरे पास तू है, दफ्तर में मारिया है, समुद्र किनारे बंगला है, चाहे भूतबंगला ही क्यों न हो। मेरे सिर पर छत है। कर्ज़ भी ज्यादा नहीं है, जबकि तुम जानती हो ये कंधे लाखों का कर्ज़ उठाने की कुव्वत रखते हैं।'' (प ष्ठ सं. 303)

कालिया जी का यह उपन्यास तमाम बौद्धिक दबावों से मुक्त है। भाषा इतनी सहज़ और सरल है की आम पाठक को आकर्षित करती है। घटना क्रम इतनी तेज़ी से चलता है कि हर प ष्ठ के साथ पाठक उपन्यास के साथ जुड़ता चला जाता है। सबसे मज़ेदार बात है इस पुस्तक के सभी पात्र रोज़मर्रा के जीवन से जुड़े हुए साध ारण लोग हैं। यही कारण है पाठक स्वयं को इन पात्रों के बीच पाता है। ओबी जैसे पात्र ही नया इतिहास बनाते हैं। कालिया जी द्वारा रचित यह पात्र 'दिल का राजा और जेब का फ़कीर' भले हो पर हिन्दी उपन्यास में हमेशा याद किया जायेगा।

'पिछली बार मैं इनकी यहां आया था तो एक लड़की नीचे फ़र्श पर गद्दा डालकर पड़ी रहती थी, आज देशभर में उसके चर्चे हैं। दत्त साहब ने उसे साइन करके उसके लिए जन्नत के दरवाज़े खोल दिए। ओबी एक पारस पत्थर है, जिसको छू देगा, वह सोना बन जायेगा।' (प ष्ठ सं. 293)

17 रानडे रोड मात्र एक उपन्यास नहीं है बल्कि मुंबई के कैनवास पर शब्दों के ब्रश से की गई एक चित्रकारी है। जिसके इंद्रधनुषी रंग इतनी चटक हैं कि उससे प्रभावित हुए बिना नहीं रहा जा सकता है।

17 रानाडे रोड (उपन्यास) लेखक : रवीन्द्र कालिया, मूल्य : तीन सौ रुपये, प्रकाशक : भारतीय ज्ञानपीठ नयी दिल्ली– 110003

अध्यात्म का अर्थ

अमरीक सिंह दीप

अध्यात्म का अर्थ है आत्मा का अध्ययन। आत्मचिंतन। मनुष्य का खुद को जानने का प्रयास। अपने अस्तित्व के प्रश्नों से साक्षात्कार। मैं प थ्वी पर क्यों अवतरित हुआ? किस लिए हुआ? किसके लिए हुआ? मेरे होने का औचित्य क्या है? मेरे जीवन का उद्देश्य क्या है? प्रकृति क्या है? प्रकृति से मेरा रिश्ता क्या है? क्या मेरे मूलभूत रूप का आधार प्रकृति है? क्या स ष्टि के सारे जीवों की जन्मदात्री प्रकृति है? क्या प्रकृति ही ईश्वर है?.... अगर प्रकृति ही ईश्वर है तो क्यों प्राकृतिक आपदाओं का शिकार निर्बल वर्ग के लोग ही होते हैं? बाढ़ आती है तो क्यों सबसे पहले गरीबों की झोपड़ियां ही बाढ़ में बहती हैं? शीत प्रकोप और लू प्रकोप से फुटपाथों पर रहने वाले गरीब ही क्यों मरते हैं? क्या प्रकृति सबल की सुरक्षा और निर्बल का विनाश करती है? अगर हां, तो प्रकृति रूपी ईश्वर समदर्शी कैसे हुआ? दीनबन्धु और दीनानाथ कैसे हुआ? ग़रीब नवाज़ कैसे हुआ?

धर्म क्या है? प्रेम, करुणा, संवेदना, सच्चाई, ईमानदारी जैसे मूलभूत मानवीय मूल्यों को धारण कर उनका प्रतिपालन करना। दुनिया के जितने धर्म हैं क्या वे इस मानदण्ड पर खरे हैं? याकि ये सबल और समर्थ के रक्षक हैं? क्या इनकी छत्रछाया में दुराचारी, भ्रष्टाचारी, धोखेबाज़, फ़रेबी, चोर, डाकू, गुण्डे, मवाली, कामचोर, हरामख़ोर, निकम्मे, निठल्ले, लोग पल रहे हैं और वे ही सारे धर्मों का संचालन कर रहे हैं? क्या वर्तमान सारे धर्म निखट्टुओं के लघु उद्योग हैं?

धार्मिक पुस्तकों में वर्णित गाथाओं, आख्यानों, उपदेशों, नैतिक आचार संहिताओं के निहितार्थ क्या है? क्या ये मनुष्यों द्वारा रचित है या कि सीधे आकाश से अवतरण हुआ है इनका? अगर संविधान में संशोधन किए जा सकते हैं तो धर्म पुस्तकों में दर्ज़ आचार संहिताओं में क्यों नहीं? स्त्री-पुरुष सम्बन्धों के नैतिक नियम क्या अपरिवर्तनीय हैं? महाभारत काल में अतिथि सत्कार के अन्तर्गत मेहमान के आगे पत्नी परोसने का प्रावधान था, एक स्त्री के पांच पति हुआ करते थे। अगर हम महाभारत कालीन गीता को अपना आदर्श मानते हैं तो महाभारत कालीन नैतिक जीवन मूल्यों को क्यों नहीं? दरअसल हर युग में स्त्री-पुरुष के देह सम्बन्धों के नैतिक नियम उस युग के स्त्री-पुरुष के प्रतिशत के अनुपात में बनते बिगड़ते रहते हैं। युद्धकाल के दौरान जब बड़ी संख्या में पुरुष सैनिक मारे जाते हैं तो जनसंख्या के अनुपात को समानान्तर करने के लिए एक पुरुष को कई स्त्रियों के साथ यौन सम्बन्ध स्थापित करने का अधिकार दे दिया जाता था। वर्तमान में अगर कन्या भ्रूण हत्याओं के चलते स्त्रियों की जनसंख्या घटती चली जायेगी तो निश्चय ही एक स्त्री को कई पतियों को रखने का महाभारत कालीन अधिकार मिल सकता है।

डिस्कवरी चैनल में बन्दरों के विषय पर एक कार्यक्रम दिखाया जाता है। बन्दर हमेशा एक समूह में रहते हैं। इस समूह का मुखिया एक शक्तिशाली बन्दर होता है, जो समूह की समस्त मादाओं से दैहिक सम्बन्ध रखता है और किसी अन्य बन्दर को उनके पास फटकने नहीं देता। अगर कोई बन्दर कोशिश करता है तो उसे अपनी शक्ति के बल पर लहूलुहान कर अपने समूह से दूर खदेड़ देता है।

जब तक शक्तिबल (सामंतवाद) प थ्वी पर प्रधान रहा तब तक यही नियम मनुष्य समाज पर भी लागू रहा। एक राजा की कई-कई रानियां, दासियां, रखैलें हुआ करती थीं। उसका हरम स्त्रियों से भरा रहता था। जब से समाज बुद्धिप्रधान हुआ है तब से स्त्री-पुरुष सम्बन्धों का समाजवादी करण हुआ है और आजीवन एक स्त्री के साथ एक पुरुष के गठबंधन का प्रावधान प्रचलन में आया है। लेकिन इस समाजवादी स्त्री-पुरुष गठबंधन में जाति-धर्म, वर्ग-वर्ण ने हस्तक्षेप कर दरारें पैदा कर दी हैं।

कुछ अपवादों को छोड़ कर इन्हीं के कारण सुपात्र से कुपात्र के गठबंधन होते हैं। इस ग़लत की घुटन से घबरा कर सुपात्र मनपसंद सुपात्र साथी तलाश कर चोरी छुपे उससे सम्बन्ध स्थापित कर लेता है। ऐसे इतर सम्बन्धों के ये ही जनक हैं। क्या ऐसे इतर सम्बन्ध ग़लत हैं? अनैतिक हैं? या गलत और अनैतिक ये जातिगत और धर्मगत सामाजिक संस्थाएं हैं? जिसकी वजह से विवाह संस्था की दीवारें दरकने लगी हैं। लिव-इन जैसे सम्बन्ध सिर उठाने लगे हैं। ऐसे ही ढेरों-ढेर सवाल हैं। जिनके उत्तरों की तलाश ही अध्यात्म है।

विकास प्रकाशन द्वारा प्रकाशित सर्वश्रेष्ठ पुस्तकें

दक्खिनी हिंदी साहित्यकार मुल्का वजही	डॉ० हाशमबेग मिर्जा	३५०/–
प्रगतिशील नाटककार भीष्म साहनी	लव कुमार लवलीन	२५०/–
हिन्दी फीचर : स्वरूप और विकास	डॉ० सुनील डहाले	३७५/–
हिन्दी : कालजयी उपन्यास	डॉ० सतीश यादव	५५०/–
ममता कालिया के कथा-साहित्य में नारी चेतना	डॉ० सानप शाम	४००/–
अज्ञेय : साहित्य और जीवन दर्शन	डॉ० रेनू श्रीवास्तव	४००/–
नयी कविता और रघुवीर सहाय का काव्य	डॉ० अजिता तिवारी	३२५/–
साहित्यशास्त्र के सौ वर्ष	डॉ० त्रिभुवननाथ शुक्ल	५००/–
समकालीन रंगधर्मी नाटककार	लव कुमार लवलीन	२५०/–
अतीत के रंग (एकांकी संग्रह)	डॉ० सुरेश शुक्ल 'चन्द्र'	१७५/–
समय, रेत और फूफन फूफा (कहानी संग्रह)	गोविन्द उपाध्याय	१७५/–
भाषा और भाषा विज्ञान	तेजपाल चौधरी	५५०/–
नाट्यालोचन	डॉ० माधव सोनटक्के	३००/–
आधुनिक हिन्दी साहित्य का इतिहास	डॉ० सूर्यनारायण रणसुभे	४५०/–
हिंदी साहित्य का इतिहास	डॉ० माधव सोनटक्के	६६५/–
आखरमार (व्यंग्य संग्रह)	शंकर पुणतांबेकर	३००/–
भारतीय एवं पाश्चात्य काव्यशास्त्र की रूपरेखा	तेजपाल चौधरी	४५०/–
भोजपुरी लोकगीत	डॉ० राधाकृष्ण विश्वकर्मा	२००/–
मुस्लिम समाज जीवन और अब्दुल बिस्मिल्लाह के उपन्यास	डॉ० बाबा साहेब रसूल शेख	३५०/–
कार्यालयी हिन्दी एवं कार्यालयी अनुवाद तकनीक	डॉ० सुरेश माहेश्वरी	३५०/–
इस्लामिक प्रभाव में मध्ययुगीन कृष्ण-भक्त सम्प्रदायों की भूमिका	डॉ० रवि अग्रवाल	४००/–
आज़ादी की फसल (लघु कथा संग्रह)	अमरीक सिंह दीप	१७५/–
कड़े पानी का शहर	अमरीक सिंह दीप	२६५/–
महाभारताख्यानध त प्रमुख खण्ड काव्यों में आधुनिकता बोध	डॉ० आलोक मिश्र	३२५/–
मैत्रेयी पुष्पा के कथा साहित्य में नारी जीवन	डॉ० शोभा यशवंते	२७०/–
तिनका (उपन्यास)	रा. रं. बोराडे	१४०/–
सर्वधर्म समभाव से सर्वधर्म समन्वय तक	डॉ० गार्गीशरण 'मराल'	२००/–
कविवर रत्नाकर	आ. पं. कृष्ण शंकर शुक्ल	३००/–
केशव की काव्य कला	आ. पं. कृष्ण शंकर शुक्ल	२२५/–
स्त्रीवाद और महिला उपन्यासकार	डॉ० वैशाली देशपांडे	३००/–
निराला के कथा साहित्य में समाजदर्शन और चरित्र स ष्टि	डॉ० वन्दना दीक्षित	३००/–
महिला उपन्यासकारों की रचनाओं में चेतना के प्रवाह	डॉ० माधुरी सोनटक्के	३७५/–

विकास प्रकाशन

110/138 जवाहर नगर, कानपुर– 208012

टेलीफैक्स : 0512-2543549

मो० : 9415154156, 9450057852

E-mail : Vikasprakashankanpur@gmail.com